बहिनश्री के वचनामृत

भगवान श्री कुन्दकुन्द–कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प : १३५

ॐ

नमः शुद्धात्मने।

बहिनश्रीके वचनामृत

(पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके प्रवचनोंसे चुने गये)

-: प्रकाशक :-

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ-364250 (सौराष्ट्र)

हिन्दी
प्रथम आवृत्तिसे पंचम आवृत्ति कुल प्रत : ३१,०००
छठवीं आवृत्ति प्रत : २०००
वीर सं. २५२९ वि. सं. २०५९ ई.स. २००३
गुजराती
एकसे आठ आवृत्तियाँ कुल प्रत : ४९,१००
मराठी
प्रथम आवृत्ति : १०,०००
कन्नड
प्रथम आवृत्ति : १,०००

यह शास्त्रका लागत मूल्य रु. 31=00 है। अनेक मुमुक्षुओंकी आर्थिक सहायतासे इस आवृत्तिकी किंमत रु. 20=00 होती है। उनमें स्व. श्री शांतिलाल रतिलाल शाहकी ओरसे 50 % आर्थिक सहयोग विशेष प्राप्त होने पर यह शास्त्रका विक्रय-मूल्य रु. 10=00 रखा गया है।

मूल्य : १०=००

मुद्रक :
कहान मुद्रणालय
जैन विद्यार्थी गृह, सोनगढ-364 250

ॐ

नमः श्रीसद्गुरुदेवाय ।

❀ प्रकाशकीय निवेदन ❀

‘बहिनश्रीके वचनामृत’ नामका यह लघुकाय प्रकाशन प्रशममूर्ति निजशुद्धात्मदृष्टिसम्पन्न पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके अध्यात्मरससभर प्रवचनोंमेंसे उनकी चरणोपजीवी कुछ कुमारिका ब्रह्मचारिणी बहिनोंने अपने लाभ हेतु झेले हुए—लिखे हुए—वचनामृतमेंसे चुने हुए बोलोंका संग्रह है ।

परमवीतराग सर्वज्ञदेव चरमतीर्थंकर परमपूज्य श्री महावीर-स्वामीकी दिव्यध्वनि द्वारा पुनः प्रवाहित हुए अनादिनिधन अध्यात्म-प्रवाहको श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने गुरुपरम्परासे आत्मसात् करके युक्ति, आगम और स्वानुभवमय निज वैभव द्वारा सूत्रबद्ध किया; और इस प्रकार समयसारादि परमागमोंकी रचना द्वारा उन्होंने जिनेन्द्रप्ररूपित विशुद्ध अध्यात्मतत्त्व प्रकाशित करके वीतराग मार्गका परम-उद्योत किया है। उनके शासनस्तम्भोपम परमागमोंकी विमल विभा द्वारा निज-शुद्धात्मानुभूतिमय जिनशासनकी मंगल उपासना करके हमारे सौभाग्यसे साधक संत आज भी उस पुनीत मार्गको प्रकाशित कर रहे हैं ।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामीको वि. सं. १९७८में भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत समयसार-परमागमका पावन योग हुआ । उससे उनके सुप्त आध्यात्मिक पूर्वसंस्कार जागृत हुए, अंतःचेतना विशुद्ध आत्मतत्त्व साधनेकी ओर मुड़ी—परिणति शुद्धात्माभिमुखी बनी; और उनके प्रवचनोंकी शैली अध्यात्मसुधासे सराबोर हो गई ।

जिनके तत्त्वरसपूर्ण वचनामृतोंका यह संग्रह है उन पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी आध्यात्मिक प्रतिभाका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ देना उचित माना

जायगा। उन्हें लघु वयमें ही पूज्य गुरुदेवश्रीकी शुद्धात्मस्पर्शी वज्रवाणीके श्रवणका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उससे उनके सम्यक्त्व-आराधनाके पूर्वसंस्कार पुनः साकार हुए। उन्होंने तत्त्वमंथनके अंतर्मुख उग्र पुरुषार्थसे १८ वर्षकी बालावयमें निज शुद्धात्मदेवके साक्षात्कारको प्राप्त कर निर्मल स्वानुभूति प्राप्त की। दिनोंदिन वृद्धिगत-धारारूप वर्तती उस विमल अनुभूतिसे सदा पवित्र प्रवर्तमान उनका जीवन, पूज्य गुरुदेवकी मांगलिक प्रबल प्रभावना-छायामें, मुमुक्षुओंको पवित्र जीवनकी प्रेरणा दे रहा है।

पूज्य बहिनश्रीकी स्वानुभूतिजन्य पवित्रताकी छाप पूज्य गुरुदेवश्रीके हृदयमें सर्वप्रथम तब उठी कि जब संवत् १९८९ में राजकोटमें उन्हें ज्ञात हुआ कि बहिनश्रीको सम्यग्दर्शन एवं तज्ञन्य निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट हुई है; ज्ञात होने पर उन्होंने अध्यात्मविषयक गम्भीर कसोटीप्रश्न पूछकर बराबर परीक्षा की; और परिणामतः पूज्य गुरुदेवने सहर्ष स्वीकार करके प्रमोद व्यक्त करते हुए कहा : 'बहिन! तुम्हारी दृष्टि और निर्मल अनुभूति यथार्थ है।'

असंग आत्मदशाकी प्रेमी पूज्य बहिनश्रीको कभी भी लौकिक व्यवहारके प्रसंगोंमें रस आया ही नहीं है। उनका अंतर्ध्येयलक्षी जीवन सत्श्रवण, स्वाध्याय, मंथन और आत्मध्यानसे समृद्ध है। आत्मध्यानमयी विमल अनुभूतिमेंसे उपयोग बाहर आने पर एक बार [(गुजराती) सं. १९९३की चैत्र कृष्णा अष्टमीके दिन] उनको उपयोगकी निर्मलतामें भवांतरों सम्बन्धी सहज स्पष्ट जातिस्मरणज्ञान प्रगट हुआ। धर्मसम्बन्धी अनेक प्रकारोंकी स्पष्टताका—सत्यताका वास्तविक बोध देनेवाला उनका वह सातिशय स्मरणज्ञान आत्मशुद्धिके साथ-साथ क्रमशः बढ़ता गया, जिसकी पुनीत प्रभासे पूज्य गुरुदेवके मंगल प्रभावना-उदयको चमत्कारिक वेग मिला है।

सहज वैराग्य, शुद्धात्मरसीली भगवती चेतना, विशुद्ध आत्मध्यानके प्रभावसे पुनःप्राप्त निज-आराधनाकी मंगल डोर तथा ज्ञायकउद्यानमें

क्रीड़ाशील विमल दशामें सहजस्फुटित अनेक भवका जातिस्मरणज्ञान इत्यादि विविध आध्यात्मिक पवित्र विशेषताओंसे विभूषित पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके असाधारण गुणगम्भीर व्यक्तित्वका परिचय देते हुए पूज्य गुरुदेव स्वयं प्रसन्नहृदयसे अनेक बार प्रकाशित करते हैं कि :—

''बहिनोंका महान भाग्य है कि चंपाबेन जैसी 'धर्मरत्न' इस काल पैदा हुई हैं। बहिन तो भारतका अनमोल रतन है। अतीन्द्रिय आनन्दका नाथ उनको अंतरसे जागृत हुआ है। उनकी अंतरकी स्थिति कोई और ही है। उनकी सुदृढ़ निर्मल आत्मदृष्टि तथा निर्विकल्प स्वानुभूतिका जोड़ इस काल मिलना कठिन है।....असंख्य अरब वर्षका उन्हें जातिस्मरणज्ञान है। बहिन ध्यानमें बैठती हैं तब कई बार वह अंतरमें भूल जाती हैं कि 'मैं महाविदेहमें हूँ या भरतमें'!!....बहिन तो अपने अंतरमें—आत्माके कार्यमें—ऐसी लीन हैं कि उन्हें बाहरकी कुछ पड़ी ही नहीं है। प्रवृत्तिका उनको जरा भी रस नहीं है। उनकी बाहर प्रसिद्धि हो वह उन्हें स्वयंको बिलकुल पसन्द नहीं है। परन्तु हमें ऐसा भाव आता है कि बहिन कई वर्ष तक छिपी रहीं, अब लोग बहिनको पहिचानें।....''

—ऐसे वात्सल्योर्मिभरे भावोद्‌गारभरी पूज्य गुरुदेवकी मंगल वाणीमें जिनकी आध्यात्मिक पवित्र महिमा सभामें अनेक बार प्रसिद्ध हुई है उन पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके, उन्होंने महिला-शास्त्रसभामें उच्चारे हुए—उनकी अनुभवधारामेंसे प्रवाहित—आत्मार्थपोषक वचन लिपिबद्ध हों तो अनेक मुमुक्षु जीवोंको महान आत्मलाभका कारण होगा, ऐसी उत्कट भावना बहुत समयसे समाजके बहुत भाई-बहिनोंमें वर्तती थी। उस शुभ भावनाको साकार करनेमें, कुछ ब्रह्मचारिणी बहिनोंने पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी प्रवचनधारामेंसे अपनेको विशेष लाभकारी हों ऐसे जो वचनामृत लिख लिये थे वे उपयोगी हुए हैं। उन्हींमेंसे यह अमूल्य वचनामृतसंग्रह तैयार हुआ है। जिनके लेख यहाँ उपयोगी हुए हैं वे बहिनें अभिनन्दनीय हैं।

पूज्य बहिनश्रीके श्रीमुखसे प्रवाहित प्रवचनधारामेंसे झेले गये अमृतबिन्दुओंके इस लघु संग्रहकी तात्त्विक वस्तु अति उच्च कोटिकी है। उसमें आत्मार्थप्रेरक अनेक विषय आ गये हैं। कहीं न रुचे तो आत्मामें रुचि लगा; आत्माकी लगन लगे तो जरूर मार्ग हाथ आये; ज्ञानीकी सहज परिणति; अशरण संसारमें वीतराग देव-गुरु-धर्मका ही शरण; स्वभावप्राप्तिके लिये यथार्थ भूमिकाका स्वरूप; मोक्षमार्गमें प्रारम्भसे लेकर पूर्णता तक पुरुषार्थकी ही महत्ता; द्रव्यदृष्टि और स्वानुभूतिका स्वरूप तथा उसकी चमत्कारिक महिमा; गुरुभक्तिकी तथा गुरुदेवकी भवान्तकारिणी वाणीकी अद्‌भुत महिमा; मुनिदशाका अंतरंग स्वरूप तथा उसकी महिमा; निर्विकल्पदशा—ध्यानका स्वरूप; केवलज्ञानकी महिमा; शुद्धाशुद्ध समस्त पर्याय विरहित सामान्य द्रव्यस्वभाव वह दृष्टिका विषय; ज्ञानीको भक्ति-शास्त्रस्वाध्याय आदि प्रसंगोंमें ज्ञातृत्वधारा तो अखण्डितरूपसे अंदर अलग ही कार्य करती रहती है; अखण्ड परसे दृष्टि छूट जाये तो साधकपना ही न रहे; शुद्ध शाश्वत चैतन्यतत्त्वके आश्रयरूप स्ववशपनेसे शाश्वत सुख प्रगट होता है;—इत्यादि विविध अनेक विषयोंका सादी तथापि प्रभावशाली सचोट भाषामें सुन्दर निरूपण हुआ है।

इस 'बहिनश्रीके वचनामृत' पुस्तकके गुजराती भाषामें अभी तक सात संस्करण (४७,१०० प्रतियाँ) प्रकाशित हुए हैं। इसका गुजराती प्रथम संस्करण पढ़कर हिन्दीभाषी अनेक मुमुक्षुओंने यह भावना प्रगट की थी कि—पूज्य बहिनश्रीके मुखारविन्दसे निकले हुए इस स्वानुभवसयुक्त अध्यात्मपीयूषका—इस वचनामृतसंग्रका--हिन्दी भाषान्तर कराकर प्रकाशित किया जाय तो हिन्दीभाषी अध्यात्मतत्त्वपिपासु जनता इससे बहुत लाभान्वित हो। उस माँगके फलस्वरूप, 'आत्मधर्म' हिन्दी पत्रके भूतपूर्व अनुवादक श्री मगनलालजी जैनके पास सरल एवं रोचक हिन्दी भाषान्तर कराकर अभी तक इसके चार संस्करण (२६,००० प्रतियां) प्रकाशित हो चूके हैं। अब यह पुस्तक अप्राप्य होनेसे तथा उसके लिये मुमुक्षुओंकी माँगको लेकर इसका पंचम संस्करण (१०००

प्रति) पुनः प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता अनुभूत होती है ।

इस प्रस्तुत पंचम संस्करणक मुद्रणकार्य 'कहान-मुद्रणालय' के मालिक श्री ज्ञानचन्दजी जैनने सुन्दरतया कर दिया है । अतः वे धन्यवादके पात्र है ।

इस पुस्तकका लागत मूल्य करीब ४४ रुपये होता है, परन्तु अनेक मुमुक्षुओं द्वारा उत्साहपूर्वक दानकी धारा प्रवाहित की गई होनेसे इसका मूल्य कम करके २२ रुपया रखा गया है ।

अंतमें, हमें आशा है कि अध्यात्मरसिक जीव पूज्य बहिनश्रीकी स्वानुभवरसधारामेंसे प्रवाहित इस आत्मस्पर्शी वचनामृत द्वारा आत्मार्थकी प्रबल प्रेरणा पाकर अपने साधनापथको सुधास्यंदी बनायेंगे ।

फाल्गुन वदी दसमी
१५-८-२०००

श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

*

तीर्थंकरभगवन्तों द्वारा प्रकाशित दिगम्बर जैन धर्म ही सत्य है ऐसा गुरुदेवने युक्ति-न्यायसे सर्व प्रकार स्पष्टरूपसे समझाया है। मार्गकी खूब छानबीन की है। द्रव्यकी स्वतंत्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, आत्माका शुद्ध स्वरूप, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति, मोक्षमार्ग इत्यादि सब कुछ उनके परम प्रतापसे इस काल सत्यरूपसे बाहर आया है। गुरुदेवकी श्रुतकी धारा कोई और ही है। उन्होंने हमें तरनेका मार्ग बतलाया है। प्रवचनमें कितना मथ-मथकर निकालते हैं! उनके प्रतापसे सारे भारतमें बहुत जीव मोक्षमार्गको समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। पंचम कालमें ऐसा सुयोग प्राप्त हुआ वह अपना परम सद्भाग्य है। जीवनमें सब उपकार गुरुदेवका ही है। गुरुदेव गुणोंसे भरपूर हैं, महिमावन्त हैं। उनके चरणकमलकी सेवा हृदयमें बसी रहे।

—बहिनश्री चंपाबेन

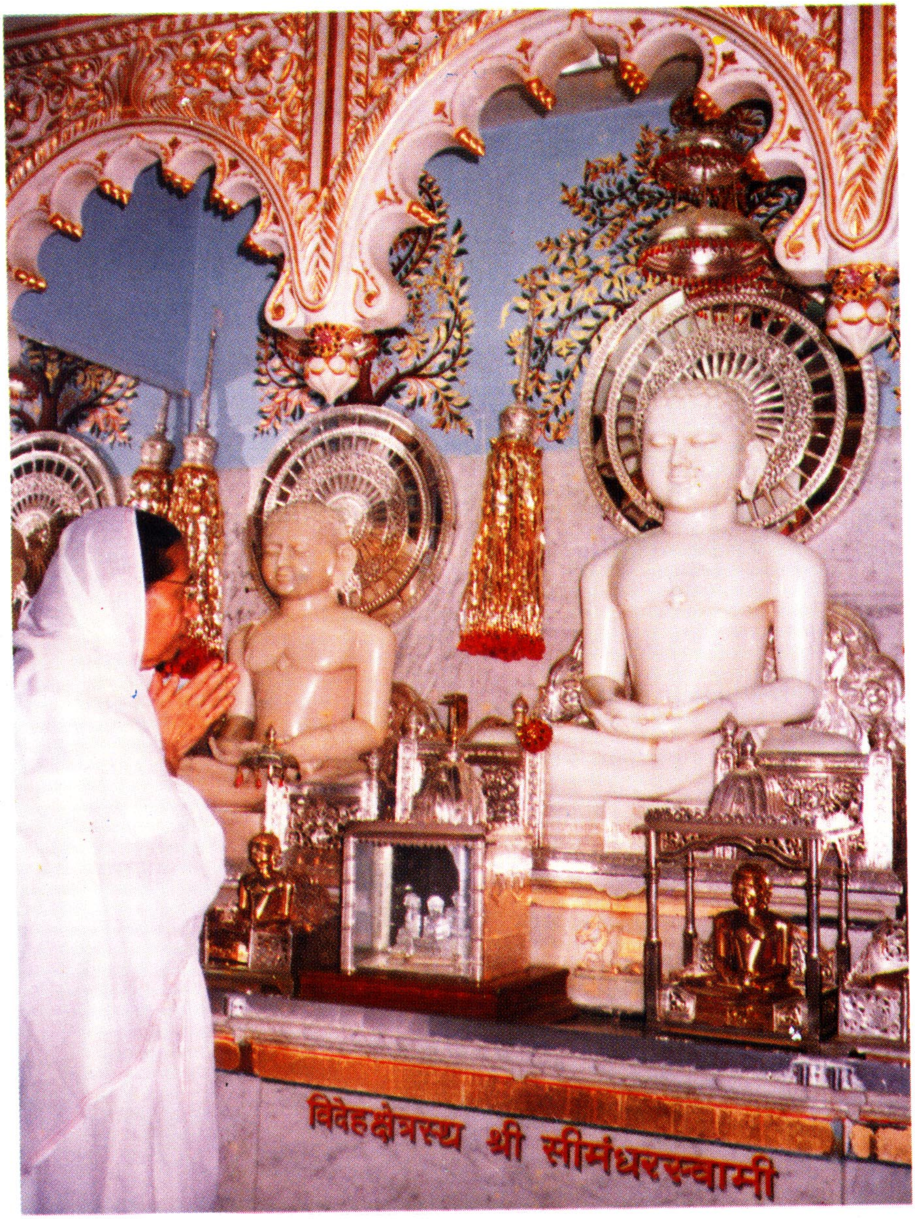

देवाधिदेव जिनेन्द्रभगवानको भावभीनी वंदना

सुसीमा धृता येन सीमन्धरेण
भवारण्यभीमभ्रमीया सुकृत्यैः ।
प्रवन्द्यः सदा तीर्थकृद्देवदेवः
प्रदेयात् स मेऽनन्तकल्याणबीजम् ।।

*

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिताः ।
जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।

*

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ।।

नमः श्रीसद्गुरवे।

अहो! देव-शास्त्र-गुरु मंगल हैं, उपकारी हैं। हमें तो देव-शास्त्र-गुरुका दासत्व चाहिये।

पूज्य कहानगुरुदेवसे तो मुक्तिका मार्ग मिला है। उनने चारों ओरसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित किया है। गुरुदेवका अपार उपकार है। वह उपकार कैसे भूला जाय?

गुरुदेवका द्रव्य तो अलौकिक है। उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारी हैं।

परम-उपकारी गुरुदेवका द्रव्य मंगल है, उनकी अमृतमयी वाणी मंगल है। वे मंगलमूर्ति हैं, भवोदधितारणहार हैं, महिमावन्त गुणोंसे भरपूर हैं।

पूज्य गुरुदेवके चरणकमलकी भक्ति और उनका दासत्व निरन्तर हो।

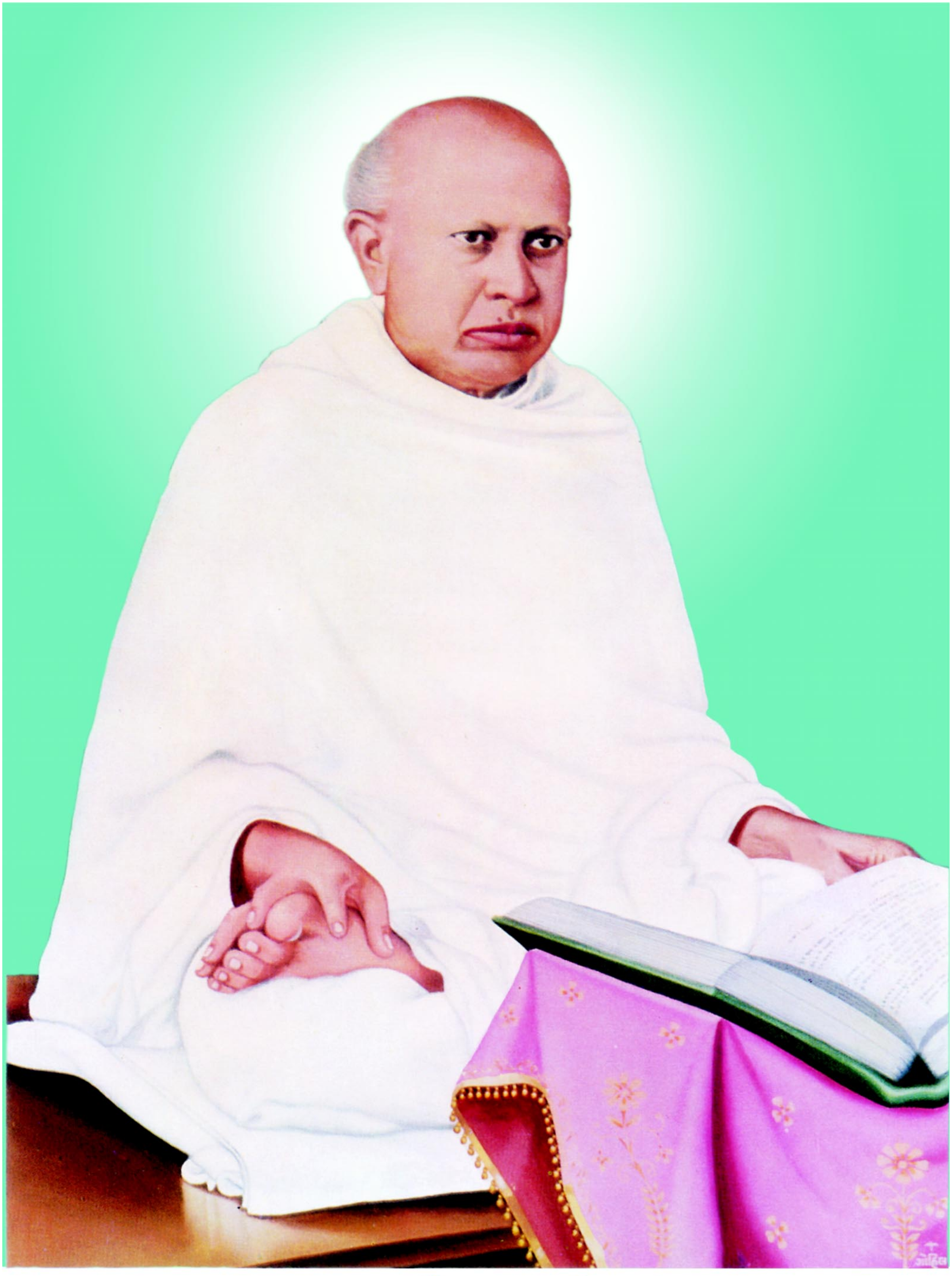

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્‌ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

शिशुवयसे अति प्रौढता, वैरागी गुणवंत ।
मेरु सम पुरुषार्थसे देखा भवका अंत ।।

*

वैरागी अंतर्मुखी, मंथन गहन अपार ।
ज्ञाताके तल पहुँचकर, किया सफल अवतार ।।

*

अति मीठी विदेही बात तेरे हृदय भरी।
हम-आत्म-उजालनहार, धर्मप्रकाशकरी ।।

પ્રશમમૂર્તિ ભગવતી પૂજ્ય બહેનશ્રી ચંપાબેન

परमात्मने नमः।

बहिनश्रीके वचनामृत

[पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके प्रवचनोंसे चुने गये]

हे जीव! तुझे कहीं न रुचता हो तो अपना उपयोग पलट दे और आत्मामें रुचि लगा। आत्मामें रुचे ऐसा है। आत्मामें आनन्द भरा है; वहाँ अवश्य रुचेगा। जगतमें कहीं रुचे ऐसा नहीं है परन्तु एक आत्मामें अवश्य रुचे ऐसा है। इसलिये तू आत्मामें रुचि लगा।।१।।

*

अंतरकी गहराईसे अपना हित साधनेको जो आत्मा जागृत हुआ और जिसे आत्माकी सच्ची लगन लगी, उसकी आत्मलगन ही उसे मार्ग कर देगी। आत्माकी सच्ची लगन लगे और अंतरमें मार्ग न हो जाय ऐसा हो ही नहीं सकता। आत्माकी लगन

लगनी चाहिये; उसके पीछे लगना चाहिये। आत्माको ध्येयरूप रखकर दिन-रात सतत प्रयत्न करना चाहिये। 'मेरा हित कैसे हो?' 'मैं आत्माको कैसे जानूँ?'—इस प्रकार लगन बढ़ाकर प्रयत्न करे तो अवश्य मार्ग हाथ लगे।।२।।

*

ज्ञानीकी परिणति सहज होती है। हर एक प्रसंगमें भेदज्ञानको याद करके उसे घोखना नहीं पड़ता, परन्तु उनके तो ऐसा सहज परिणमन ही हो जाता है—आत्मामें धारावाही परिणमन वर्तता ही रहता है।।३।।

*

ज्ञान और वैराग्य एक-दूसरेको प्रोत्साहन देनेवाले हैं। ज्ञान रहित वैराग्य वह सचमुच वैराग्य नहीं है किन्तु रुंधा हुआ कषाय है। परन्तु ज्ञान न होनेसे जीव कषायको पहिचान नहीं पाता। ज्ञान स्वयं मार्गको जानता है, और वैराग्य है वह ज्ञानको कहीं फँसने नहीं देता किन्तु सबसे निस्पृह एवं स्वकी मौजमें ज्ञानको टिका रखता है। ज्ञान सहित जीवन नियमसे वैराग्यमय ही होता है।।४।।

*

अहो! इस अशरण संसारमें जन्मके साथ मरण लगा हुआ है। आत्माकी सिद्धि न सधे तब तक जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहेगा। ऐसे अशरण संसारमें देव-गुरु-धर्मका ही शरण है। पूज्य गुरुदेवके बताये हुए चैतन्यशरणको लक्षगत करके उसके दृढ़ संस्कार आत्मामें जम जायँ—यही जीवनमें करने योग्य है।।५।।

*

स्वभावकी बात सुनते ही सीधी हृदय पर चोट लग जाय। 'स्वभाव' शब्द सुनते ही शरीरको चीरता हुआ हृदयमें उतर जाय, रोम-रोम उल्लसित हो जाय—इतना हृदयमें हो, और स्वभावको प्राप्त किये बिना चैन न पड़े, सुख न लगे, उसे लेकर ही छोड़े। यथार्थ भूमिकामें ऐसा होता है।।६।।

*

जगतमें जैसे कहते हैं कि कदम-कदम पर पैसेकी जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार आत्मामें पग-पग पर अर्थात् पर्याय-पर्यायमें पुरुषार्थ ही आवश्यक है। पुरुषार्थके बिना एक भी पर्याय प्रगट नहीं होती।

अर्थात् रुचिसे लेकर ठेठ केवलज्ञान तक पुरुषार्थ ही आवश्यक है।।७।।

*

आजकल पूज्य गुरुदेवकी बात ग्रहण करनेके लिये अनेक जीव तैयार हो गये हैं। गुरुदेवको वाणीका योग प्रबल है; श्रुतकी धारा ऐसी है कि लोगोंको प्रभावित करती है और 'सुनते ही रहें' ऐसा लगता है। गुरुदेवने मुक्तिका मार्ग दरशाया और स्पष्ट किया है। उन्हें श्रुतकी लब्धि है।।८।।

*

पुरुषार्थ करनेकी युक्ति सूझ जाय तो मार्गकी उलझन टल जाय। फिर युक्तिसे कमाये। पैसा पैसेको खींचता है—धन कमाये तो ढेर हो जाये, तदनुसार आत्मामें पुरुषार्थ करनेकी युक्ति आ गई, तो कभी तो अंतरमें ढेरके ढेर लग जाते हैं और कभी सहज जैसा हो वैसा रहता है।।९।।

*

हम सबको सिद्धस्वरूप ही देखते हैं, हम तो सबको चैतन्य ही देख रहे हैं। हम किन्हींको राग-द्वेषवाले देखते ही नहीं। वे अपनेको भले ही चाहे जैसा मानते

हों, परन्तु जिसे चैतन्य—आत्मा प्रकाशित हुआ उसे सब चैतन्यमय ही भासित होता है।।१०।।

*

मुमुक्षुओं तथा ज्ञानियोंको अपवादमार्गका या उत्सर्गमार्गका आग्रह नहीं होता, परन्तु जिससे अपने परिणाममें आगे बढ़ा जा सके उस मार्गको ग्रहण करते हैं। किन्तु यदि एकान्त उत्सर्ग या एकान्त अपवादकी हठ करे तो उसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी ही खबर नहीं है।।११।।

*

जिसे द्रव्यद्दष्टि प्रगट हुई उसकी द्दष्टि अब चैतन्यके तल पर ही लगी है। उसमें परिणति एकमेक हो गई है। चैतन्य-तलमें ही सहज द्दष्टि है। स्वानुभूतिके कालमें या बाहर उपयोग हो तब भी तल परसे द्दष्टि नहीं हटती, द्दष्टि बाहर जाती ही नहीं। ज्ञानी चैतन्यके पातालमें पहुँच गये हैं; गहरी-गहरी गुफामें, बहुत गहराई तक पहुँच गये हैं; साधनाकी सहज दशा साधी हुई है।।१२।।

*

'मैं ज्ञायक और यह पर', बाकी सब जाननेके प्रकार हैं। 'मैं ज्ञायक हूँ, बाकी सब पर'—ऐसी एक धारा प्रवाहित हो तो उसमें सब आ जाता है, परन्तु स्वयं गहरा उतरता ही नहीं, करनेकी ठानता ही नहीं, इसलिये कठिन लगता है।।१३।।

*

'मैं हूँ' इस प्रकार स्वयंसे अपने अस्तित्वका जोर आता है, स्वयं अपनेको पहिचानता है। पहले ऊपर-ऊपरसे अस्तित्वका जोर आता है, फिर अस्तित्वका गहराईसे जोर आता है; वह विकल्परूप होता है परन्तु भावना जोरदार होनेसे सहजरूपसे जोर आता है। भावनाकी उग्रता हो तो सच्चा आनेका अवकाश है।।१४।।

*

तीर्थंकरदेवकी दिव्यध्वनि जो कि जड़ है उसे भी कैसी उपमा दी है! अमृतवाणीकी मिठास देखकर द्राक्षें शरमाकर वनवासमें चली गईं और इक्षु अभिमान छोड़कर कोल्हूमें पिल गया! ऐसी तो जिनेन्द्रवाणीकी महिमा गायी है; फिर

जिनेन्द्रदेवके चैतन्यकी महिमाका तो क्या कहना ! ।।१५।।

*

ज्ञान-वैराग्यरूपी पानी अंतरमें सींचनेसे अमृत मिलेगा, तेरे सुखका फव्वारा छूटेगा; राग सींचनेसे दुःख मिलेगा। इसलिये ज्ञान-वैराग्यरूपी जलका सिंचन करके मुक्तिसुखरूपी अमृत प्राप्त कर।।१६।।

*

जैसे वृक्षका मूल पकड़नेसे सब हाथ आता है, वैसे ज्ञायकभाव पकड़नेसे सब हाथ आयगा। शुभ-परिणाम करनेसे कुछ हाथ नहीं आयगा। यदि मूल स्वभावको पकड़ा होगा तो चाहे जो प्रसंग आयें उस समय शान्ति—समाधान रहेगा, ज्ञाता-द्रष्टारूपसे रहा जा सकेगा।।१७।।

*

दृष्टि द्रव्य पर रखना है। विकल्प आयें परन्तु दृष्टि एक द्रव्य पर है। जिस प्रकार पतंग आकाशमें उड़ती है परन्तु डोर हाथमें होती है, उसी प्रकार 'चैतन्य हूँ' यह डोर हाथमें रखना। विकल्प आयें,

परन्तु चैतन्यतत्त्व सो मैं हूँ—ऐसा बारम्बार अभ्यास करनेसे दृढ़ता होती है।।१८।।

*

ज्ञानीके अभिप्रायमें राग है वह जहर है, काला साँप है। अभी आसक्तिके कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं, राग है, परन्तु अभिप्रायमें काला साँप लगता है। ज्ञानी विभावके बीच खड़े होने पर भी विभावसे पृथक् हैं—न्यारे हैं।।१९।।

*

मुझे कुछ नहीं चाहिये, किसी परपदार्थकी लालसा नहीं है, आत्मा ही चाहिये—ऐसी तीव्र उत्सुकता जिसे हो उसे मार्ग मिलता है। अंतरमें चैतन्यऋद्धि है तत्संबंधी विकल्पमें भी वह नहीं रुकता। ऐसा निस्पृह हो जाता है कि मुझे अपना अस्तित्व ही चाहिये। —ऐसी अंतरमें जानेकी तीव्र उत्सुकता जागे तो आत्मा प्रगट हो, प्राप्त हो।।२०।।

*

चैतन्यको चैतन्यमेंसे परिणमित भावना अर्थात्

राग-द्वेषमेंसे नहीं उदित हुई भावना—ऐसी यथार्थ भावना हो तो वह भावना फलती ही है। यदि नहीं फले तो जगतको—चौदह ब्रह्माण्डको शून्य होना पड़े अथवा तो इस द्रव्यका नाश हो जाय। परन्तु ऐसा होता ही नहीं। चैतन्यके परिणामके साथ कुदरत बँधी हुई है—ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है। यह अनन्त तीर्थंकरोंकी कही हुई बात है।।२१।।

*

गुरुदेवको मानों तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। वाणीका प्रभाव ऐसा है कि हजारों जीव समझ जाते हैं। तीर्थंकरकी वाणी जैसा योग है। वाणी जोरदार है। चाहे जितनी बार सुनने पर भी अरुचि नहीं आती। स्वयं इतनी सरसतासे बोलते हैं कि जिससे सुननेवालेका रस भी जमा रहता है, रसभरपूर वाणी है।।२२।।

*

ऊपर-ऊपरके वांचन-विचार आदिसे कुछ नहीं होता, हृदयसे भावना उठे तो मार्ग सरल होता है। अंत-

स्तलमेंसे ज्ञायककी खूब महिमा आनी चाहिये।।२३।।

*

आत्मार्थीको स्वाध्याय करना चाहिये, विचार-मनन करना चाहिये; यही आत्मार्थीकी खुराक है।।२४।।

*

प्रथम भूमिकामें शास्त्रश्रवण-पठन-मनन आदि सब होता है, परन्तु अंतरमें उस शुभ भावसे संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। इस कार्यके साथ ही ऐसा खटका रहना चाहिये कि यह सब है किन्तु मार्ग तो कोई अलग ही है। शुभाशुभ भावसे रहित मार्ग भीतर है—ऐसा खटका तो साथ ही लगा रहना चाहिये।।२५।।

*

भीतर आत्मदेव बिराजमान है उसकी सँभाल कर। अब अंतरमें जा, और तृप्त हो। अनंत गुणस्वरूप आत्माको देख, उसकी सँभाल कर। वीतरागी आनन्दसे भरपूर स्वभावमें क्रीड़ा कर, उस आनन्दरूप सरोवरमें केलि कर—उसमें रमण कर।।२६।।

*

ऐसे कालमें परम पूज्य गुरुदेवश्रीने आत्मा प्राप्त किया इसलिये परम पूज्य गुरुदेव एक 'अचंभा' हैं। इस काल दुष्करमें दुष्कर प्राप्त किया; स्वयं अंतरसे मार्ग प्राप्त किया और दूसरोंको मार्ग बतलाया। उनकी महिमा आज तो गायी जा रही है परन्तु हजारों वर्ष तक भी गायी जायगी।।२७।।

*

भविष्यका चित्रण कैसा करना है वह तेरे हाथकी बात है। इसलिये कहा है कि—'बंध समय जीव चेतो रे, उदय समय क्या चिंत!'।।२८।।

*

ज्ञानको धीर-गंभीर करके सूक्ष्मतासे भीतर देख तो आत्मा पकड़में आ सकता है। एक बार विकल्पका जाल तोड़कर भीतरसे अलग हो जा, फिर जाल चिपकेगा नहीं।।२९।।

*

जब बीज बोते हैं तब प्रगट रूपसे कुछ नहीं दिखता, तथापि विश्वास है कि 'इस बीजमेंसे वृक्ष उगेगा, उसमेंसे डालें-पत्ते-फलादि आयेंगे', पश्चात्

उसका विचार नहीं आता; उसी प्रकार मूल शक्तिरूप द्रव्यको यथार्थ विश्वासपूर्वक ग्रहण करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है; द्रव्यमें प्रगटरूपसे कुछ दिखाई नहीं देता इसलिये विश्वास बिना 'क्या प्रगट होगा' ऐसा लगता है, परन्तु द्रव्यस्वभावका विश्वास करनेसे निर्मलता प्रगट होने लगती है।।३०।।

*

सम्यग्दृष्टिको ज्ञान-वैराग्यकी ऐसी शक्ति प्रगट हुई है कि गृहस्थाश्रममें होने पर भी, सभी कार्योंमें स्थित होने पर भी, लेप नहीं लगता, निर्लेप रहते हैं; ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं; अल्प अस्थिरता है वह अपने पुरुषार्थकी कमज़ोरीसे होती है, उसके भी ज्ञाता रहते हैं।।३१।।

*

सम्यग्दृष्टिको आत्माके सिवा बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता, जगतकी कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। जिसे चैतन्यकी महिमा एवं रस लगा है उसको बाह्य विषयोंका रस टूट गया है, कोई पदार्थ सुन्दर या अच्छा नहीं लगता। अनादि

अभ्यासके कारण, अस्थिरताके कारण अन्दर स्वरूपमें नहीं रहा जा सकता इसलिये उपयोग बाहर आता है परन्तु रसके बिना—सब निःसार, छिलकोंके समान, रस-कस शून्य हो ऐसे भावसे—बाहर खड़े हैं।।३२।।

*

'जिसे लगी है उसीको लगी है'....परन्तु अधिक खेद नहीं करना। वस्तु परिणमनशील है, कूटस्थ नहीं है; शुभाशुभ परिणाम तो होंगे। उन्हें छोड़ने जायगा तो शून्य अथवा शुष्क हो जायगा। इसलिये एकदम जल्दबाजी नहीं करना। मुमुक्षु जीव उल्लासके कार्योंमें भी लगता है; साथ ही साथ अन्दरसे गहराईमें खटका लगा ही रहता है, संतोष नहीं होता। अभी मुझे जो करना है वह बाकी रह जाता है—ऐसा गहरा खटका निरंतर लगा ही रहता है, इसलिये बाहर कहीं उसे संतोष नहीं होता; और अन्दर ज्ञायकवस्तु हाथ नहीं आती, इसलिये उलझन तो होती है; परन्तु इधर-उधर न जाकर वह उलझनमेंसे मार्ग ढूँढ़ निकालता है।।३३।।

*

मुमुक्षुको प्रथम भूमिकामें थोड़ी उलझन भी होती है, परन्तु वह ऐसा नहीं उलझता कि जिससे मूढ़ता हो जाय। उसे सुखका वेदन चाहिये है वह मिलता नहीं और बाहर रहना पोसाता नहीं है, इसलिये उलझन होती है, परन्तु उलझनमेंसे वह मार्ग ढूँढ़ लेता है। जितना पुरुषार्थ उठाये उतना वीर्य अंदर काम करता है। आत्मार्थी हठ नहीं करता कि मुझे झटपट करना है। स्वभावमें हठ काम नहीं आती। मार्ग सहज है, व्यर्थकी जल्दबाजीसे प्राप्त नहीं होता।।३४।।

*

अनंत कालसे जीवको अशुभ भावकी आदत पड़ गई है, इसलिये उसे अशुभ भाव सहज है। और शुभको बारम्बार करनेसे शुभ भाव भी सहज हो जाता है। परन्तु अपना स्वभाव जो कि सचमुच सहज है उसका ख्याल जीवको नहीं आता, खबर नहीं पड़ती। उपयोगको सूक्ष्म करके सहज स्वभाव पकड़ना चाहिये।।३५।।

*

जो प्रथम उपयोगको पलटना चाहता है परन्तु

अंतरंग रुचिको नहीं पलटता, उसे मार्गका ख्याल नहीं है । प्रथम रुचिको पलटे तो उपयोग सहज ही पलट जायगा । मार्गकी यथार्थ विधिका यह क्रम है।।३६।।

*

'मैं अबद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ', यह विकल्प भी दुःखरूप लगते हैं, शांति नहीं मिलती, विकल्पमात्रमें दुःख ही दुःख भासता है, तब अपूर्व पुरुषार्थ उठाकर वस्तुस्वभावमें लीन होने पर, आत्मार्थी जीवको सब विकल्प छूट जाते हैं और आनन्दका वेदन होता है।।३७।।

*

आत्माको प्राप्त करनेका जिसे दृढ निश्चय हुआ है उसे प्रतिकूल संयोगोंमें भी तीव्र एवं कठिन पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा । सच्चा मुमुक्षु सद्गुरुके गंभीर तथा मूल वस्तुस्वरूप समझमें आये ऐसे रहस्योंसे भरपूर वाक्योंका खूब गहरा मंथन करके मूल मार्गको ढूँढ़ निकालता है।।३८।।

*

सहज दशाको विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता । यदि विकल्प करके बनाये रखना पड़े तो वह

सहज दशा ही नहीं है। तथा प्रगट हुई दशाको बनाये रखनेका कोई अलग पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; क्योंकि बढ़नेका पुरुषार्थ करता है जिससे वह दशा तो सहज ही बनी रहती है।।३९।।

*

साधक दशामें शुभ भाव बीचमें आते हैं; परन्तु साधक उन्हें छोड़ता जाता है; साध्यका लक्ष नहीं चूकता।—जैसे मुसाफिर एक नगरसे दूसरे नगर जाता है तब बीचमें अन्य-अन्य नगर आयें उन्हें छोड़ता जाता है, वहाँ रुकता नहीं है; जहाँ जाना है वहींका लक्ष रहता है।।४०।।

*

सच्ची उत्कंठा हो तो मार्ग मिलता ही है, मार्ग न मिले ऐसा नहीं बनता। जितना कारण दे उतना कार्य होता ही है। अन्दर वेदन सहित भावना हो तो मार्ग ढूँढ़े।।४१।।

*

यथार्थ रुचि सहित शुभभाव वैराग्य एवं उपशम-रससे सराबोर होते हैं; और यथार्थ रुचि बिना, वहके

वही शुभभाव रूखे एवं चंचलतायुक्त होते हैं।।४२।।

*

जिस प्रकार कोई बालक अपनी मातासे बिछुड़ गया हो, उससे पूछें कि 'तेरा नाम क्या?' तो कहता है 'मेरी माँ', 'तेरा गाँव कौन?' तो कहता है 'मेरी माँ', 'तेरे माता-पिता कौन हैं?' तो कहता है 'मेरी माँ', उसी प्रकार जिसे आत्माकी सच्ची रुचिसे ज्ञायकस्वभाव प्राप्त करना है उसे हरएक प्रसंगमें 'ज्ञायकस्वभाव....ज्ञायकस्वभाव'—ऐसी लगन बनी ही रहती है, उसीकी निरंतर रुचि एवं भावना रहती है।।४३।।

*

रुचिमें सचमुच अपनेको आवश्यकता लगे तो वस्तुकी प्राप्ति हुए बिना रहती ही नहीं। उसे चौबीसों घण्टे एक ही चिंतन, मंथन, खटका बना रहता है। जिस प्रकार किसीको 'माँ' का प्रेम हो तो उसे माँकी याद, उसका खटका निरंतर बना ही रहता है, उसी प्रकार जिसे आत्माका प्रेम हो वह भले ही शुभमें उल्लासपूर्वक भाग लेता हो तथापि अंतरमें खटका तो आत्माका ही रहता है। 'माँ' के प्रेमवाला भले ही

कुटुम्ब-परिवारके समूहमें बैठा हो, आनन्द करता हो, परन्तु मन तो 'माँ' में ही लगा रहता है : 'अरे ! मेरी माँ....मेरी माँ !'; उसी प्रकार आत्माका खटका रहना चाहिये । चाहे जिस प्रसंगमें 'मेरा आत्मा....मेरा आत्मा !' यही खटका और रुचि रहना चाहिये । ऐसा खटका बना रहे तो 'आत्म-माँ' मिले बिना नहीं रह सकती ।।४४।।

*

अंतरका तल खोजकर आत्माको पहिचान । शुभ परिणाम, धारणा आदिका थोड़ा पुरुषार्थ करके 'मैंने बहुत किया है' ऐसा मानकर, जीव आगे बढ़नेके बदले अटक जाता है । अज्ञानीको जरा कुछ आ जाय, धारणासे याद रह जाय, वहाँ उसे अभिमान हो जाता है; क्योंकि वस्तुके अगाध स्वरूपका उसे ख्याल ही नहीं है; इसलिये वह बुद्धिके विकास आदिमें संतुष्ट होकर अटक जाता है । ज्ञानीको पूर्णताका लक्ष होनेसे वह अंशमें नहीं अटकता । पूर्ण पर्याय प्रगट हो तो भी स्वभाव था सो प्रगट हुआ इसमें नया क्या है ? इसलिये ज्ञानीको अभिमान नहीं होता ।।४५।।

*

जीवन आत्मामय ही कर लेना चाहिये। भले ही उपयोग सूक्ष्म होकर कार्य नहीं कर सकता हो परन्तु प्रतीतिमें ऐसा ही होता है कि यह कार्य करनेसे ही लाभ है, मुझे यही करना है; वह वर्तमान पात्र है।।४६।।

*

त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य कभी बँधा नहीं है। मुक्त है या बँधा है वह व्यवहारनयसे है, वह पर्याय है। जैसे मकड़ी अपनी लारमें बँधी है वह छूटना चाहे तो छूट सकती है, जैसे घरमें रहनेवाला मनुष्य अनेक कार्योंमें, उपाधियोंमें, जंजालमें फँसा है परन्तु मनुष्यरूपसे छूटा है; वैसे ही जीव विभावके जालमें बँधा है, फँसा है परन्तु प्रयत्न करे तो स्वयं मुक्त ही है ऐसा ज्ञात होता है। चैतन्यपदार्थ तो मुक्त ही है। चैतन्य तो ज्ञान-आनन्दकी मूर्ति—ज्ञायकमूर्ति है, परन्तु स्वयं अपनेको भूल गया है। विभावका जाल बिछा है उसमें फँस गया है, परन्तु प्रयत्न करे तो मुक्त ही है। द्रव्य बँधा नहीं है।।४७।।

*

विकल्पमें पूरा-पूरा दुःख लगना चाहिये।

विकल्पमें किंचित् भी शान्ति एवं सुख नहीं है ऐसा जीवको अंदरसे लगना चाहिये । एक विकल्पमें दुःख लगता है और दूसरे मंद विकल्पमें शांतिका आभास होता है, परन्तु विकल्पमात्रमें तीव्र दुःख लगे तो अंदर मार्ग मिले बिना न रहे।।४८।।

*

सारे दिनमें आत्मार्थको पोषण मिले ऐसे परिणाम कितने हैं और अन्य परिणाम कितने हैं वह जाँचकर पुरुषार्थकी ओर झुकना । चिंतवन मुख्यरूपसे करना चाहिये । कषायके वेगमें बहनेसे अटकना, गुणग्राही बनना।।४९।।

*

तू सत्‌की गहरी जिज्ञासा कर जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा; तेरी मति सरल एवं सुलटी होकर आत्मामें परिणमित हो जायगी । सत्‌के संस्कार गहरे डाले होंगे तो अन्तमें अन्य गतिमें भी सत् प्रगट होगा । इसलिये सत्‌के गहरे संस्कार डाल।।५०।।

*

आकाश-पाताल भले एक हो जायें परन्तु भाई !

तू अपने ध्येयको मत चूकना, अपने प्रयत्नको मत छोड़ना। आत्मार्थको पोषण मिले वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ उसे पूर्ण करना, अवश्य सिद्धि होगी।।५१।।

*

शरीर शरीरका कार्य करता है, आत्मा आत्माका कार्य करता है। दोनों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं, उनमें 'यह शरीरादि मेरे' ऐसा मानकर सुख-दुःख न कर, ज्ञाता बन जा। देहके लिये अनंत भव व्यतीत हुए; अब, संत कहते हैं कि अपने आत्माके लिये यह जीवन अर्पण कर।।५२।।

*

निवृत्तिमय जीवनमें प्रवृत्तिमय जीवन नहीं सुहाता। शरीरका रोग मिटना हो तो मिटे, परन्तु उसके लिये प्रवृत्ति नहीं सुहाती। बाहरका कार्य उपाधि लगता है, रुचता नहीं।।५३।।

*

अनुकूलतामें नहीं समझता तो भाई! अब प्रति-

कूलतामें तो समझ! किसी प्रकार समझ....समझ, और वैराग्य लाकर आत्मामें जा।।५४।।

*

चैतन्यकी भावना कभी निष्फल नहीं जाती, सफल ही होती है । भले ही थोड़ा समय लगे, किन्तु भावना सफल होती ही है।।५५।।

*

जीव स्वयं पूरा खो गया है वह नहीं देखता, और एक वस्तु खो गई तो मानों स्वयं पूरा खो गया, रुक गया; रुपया, घर, शरीर, पुत्रादिमें तू रुक गया है । अरे! विचार तो कर कि तू सारे दिन कहाँ रुका रहा! बाहरका बाहर ही रुक गया, तो भाई! वहाँ आत्मप्राप्ति कैसे होगी?।।५६।।

*

पूज्य गुरुदेवके श्रीमुखसे स्वयं जिस तत्त्वको ग्रहण किया हो उसका मंथन करना चाहिये । निवृत्तिकालमें अपनी परिणतिमें रस आये ऐसी पुस्तकोंका पठन करके अपनी लगनको जागृत रखना चाहिये । आत्माके ध्येयपूर्वक, अपनी परिणतिमें रस

आये ऐसे विचार-मंथन करने पर अंतरसे अपना मार्ग मिल जाता है।।५७।।

*

ज्ञानीको दृष्टि-अपेक्षासे चैतन्य एवं रागकी अत्यन्त भिन्नता भासती है, यद्यपि वे ज्ञानमें जानते हैं कि राग चैतन्यकी पर्यायमें होता है।।५८।।

*

जिस जीवका ज्ञान अपने स्थूल परिणामोंको पकड़नेमें काम न करे वह जीव अपने सूक्ष्म परिणामोंको कहाँसे पकड़ेगा ? और सूक्ष्म परिणामोंको न पकड़े तो स्वभाव कैसे पकड़में आयेगा ? ज्ञानको सूक्ष्म-तीक्ष्ण करके स्वभावको पकड़े तो भेदविज्ञान हो।।५९।।

*

अनादिकालसे अज्ञानी जीव संसारमें भटकते-भटकते, सुखकी लालसामें विषयोंके पीछे दौड़ते-दौड़ते, अनंत दुःखोंको सहता रहा है। कभी उसे सच्चा सुख बतलानेवाले मिले तो शंका रखकर अटक गया, कभी सच्चा सुख बतलानेवालेकी उपेक्षा करके

अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त करनेसे वंचित रहा, कभी पुरुषार्थ किये बिना अटका रहा, कभी पुरुषार्थ किया भी तो थोड़ेसे पुरुषार्थके लिये वहाँसे अटका और गिरा ।—इस प्रकार जीव अपना स्वरूप प्राप्त करनेमें अनंत बार अटका । पुण्योदयसे यह देह प्राप्त हुआ, यह दशा प्राप्त हुई, ऐसे सत्पुरुषका योग मिला; अब यदि पुरुषार्थ नहीं करेगा तो किस भवमें करेगा ? हे जीव! पुरुषार्थ कर; ऐसा सुयोग एवं सच्चा आत्म-स्वरूप बतलानेवाले सत्पुरुष बार-बार नहीं मिलेंगे।।६०।।

*

जिसे सचमुच ताप लगा हो, जो संसारसे ऊब गया हो उसकी यह बात है । विभावसे ऊब जाये और संसारका त्रास लगे तो मार्ग मिले बिना नहीं रहता । कारण दे तो कार्य प्रगट होता ही है । जिसे जिसकी रुचि—रस हो वहाँ उसका समय कट जाता है; 'रुचि अनुयायी वीर्य' । निरंतर ज्ञायकके मंथनमें रहे, दिन-रात उसके पीछे पड़े, तो वस्तु प्राप्त हुए बिना न रहे।।६१।।

*

जीव ज्ञायकके लक्षसे श्रवण करे, चिंतवन करे,

मंथन करे उसे—भले कदाचित् सम्यग्दर्शन न हो तथापि—सम्यक्त्वसन्मुखता होती है। अन्दर दृढ़ संस्कार डाले, उपयोग एक विषयमें न टिके तो अन्यमें बदले, उपयोग सूक्ष्मसे सूक्ष्म करे, उपयोगमें सूक्ष्मता करते करते, चैतन्यतत्त्वको ग्रहण करते हुए आगे बढ़े, वह जीव क्रमसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।।६२।।

*

जैसा बीज बोये वैसा वृक्ष होता है; आमका बीज (गुठली) बोये तो आमका वृक्ष होगा और अकौआ (आक)का बीज बोयेगा तो अकौएका वृक्ष उगेगा। जैसा कारण देंगे वैसा कार्य होता है। सच्चा पुरुषार्थ करें तो सच्चा फल मिलता ही है।।६३।।

*

अंतरमें, चैतन्यतत्त्व नमस्कार करने योग्य है; वही मंगल है, वही सर्व पदार्थोंमें उत्तम है, भव्य जीवोंको वह आत्मतत्त्व ही एक शरण है। बाह्यमें, पंच परमेष्ठी—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु—नमस्कार करने योग्य हैं क्योंकि उन्होंने

आत्माकी साधना की है; वे मंगलरूप हैं, वे लोकमें उत्तम हैं; वे भव्यजीवोंके शरण हैं।।६४।।

*

देव-गुरुकी वाणी और देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा चैतन्यदेवकी महिमा जागृत करनेमें, उसके गहरे संस्कार दृढ़ करनेमें तथा स्वरूपप्राप्ति करनेमें निमित्त हैं।।६५।।

*

बाह्यमें सब कुछ हो उसमें—भक्ति-उल्लासके कार्य हों उनमें भी—आत्माका आनन्द नहीं है। जो तलमेंसे आये वही आनन्द सच्चा है।।६६।।

*

प्रत्येक प्रसंगमें शान्ति, शान्ति और शान्ति ही लाभदायक है।।६७।।

*

पूज्य गुरुदेवकी वाणी मिले वह एक अनुपम सौभाग्य है। मार्ग बतलानेवाले गुरु मिले और उनकी वाणी सुननेको मिली वह मुमुक्षुओंका परम सौभाग्य

है । प्रतिदिन प्रातः-मध्याह्न दो बार ऐसा उत्तम सम्यक्-तत्त्व सुननेको मिलता है इस जैसा दूसरा कौनसा सद्भाग्य होगा ? श्रोताको अपूर्वता लगे और पुरुषार्थ करे तो वह आत्माके समीप आ जाय और जन्म-मरण टल जाय—ऐसी अद्भुत वाणी है । ऐसा जो श्रवणका सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह मुमुक्षु जीवोंको सफल कर लेने योग्य है । पंचम कालमें निरंतर अमृतझरती गुरुदेवकी वाणी भगवानका विरह भुलाती है ! ।।६८।।

*

प्रयोजन तो एक आत्माका ही रखना । आत्माका रस आये वहाँ विभावका रस झर जाता है ।।६९।।

*

सब कुछ आत्मामें है, बाहर कुछ नहीं है । तुझे कुछ भी जाननेकी इच्छा होती हो तो तू अपने आत्माकी साधना कर । पूर्णता प्रगट होने पर लोकालोक उसमें ज्ञेयरूपसे ज्ञात होगा । जगत जगतमें रहे तथापि केवलज्ञानमें सब ज्ञात होता है । जाननहार तत्त्व पूर्णतारूप परिणमने पर उसकी जानकारीसे बाहर कुछ नहीं रहता और साथ ही साथ

आनंदादि अनेक नवीनताएँ प्रगट होती हैं।।७०।।

*

धन्य वह निर्ग्रन्थ मुनिदशा! मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञानकी तलहटी। मुनिको अंतरमें चैतन्यके अनंत गुण-पर्यायोंका परिग्रह होता है; विभाव बहुत छूट गया होता है। बाह्यमें श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणभूतपनेसे देहमात्र परिग्रह होता है। प्रतिबंध-रहित सहज दशा होती है; शिष्योंको बोध देनेका अथवा ऐसा कोई भी प्रतिबंध नहीं होता। स्वरूपमें लीनता वृद्धिंगत होती है।।७१।।

*

अखण्ड द्रव्यको ग्रहण करके प्रमत्त-अप्रमत्त स्थितिमें झूले वह मुनिदशा। मुनिराज स्वरूपमें निरंतर जागृत हैं, मुनिराज जहाँ जागते हैं वहाँ जगत सोता है, जगत जहाँ जागता है वहाँ मुनिराज सोते हैं। 'मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्षकी प्राप्ति करें'।।७२।।

*

द्रव्य तो निवृत्त ही है। उसका दृढ़तासे अवलम्बन

लेकर भविष्यके विभावसे भी निवृत्त होओ । मुक्ति तो जिनके हाथमें आ गई है ऐसे मुनियोंको भेदज्ञानकी तीक्ष्णतासे प्रत्याख्यान होता है।।७३।।

*

यदि तेरी गति विभावमें जाती है तो उसे शीघ्रतासे चैतन्यमें लगा । स्वभावमें आनेसे सुख और गुणोंकी वृद्धि होगी; विभावमें जानेसे दुःख और गुणोंकी हानि होगी । इसलिये शीघ्रतासे स्वरूपमें गति कर।।७४।।

*

जिन्होंने चैतन्यधामको पहिचान लिया है वे स्वरूपमें ऐसे सो गये कि बाहर आना अच्छा ही नहीं लगता । जैसे अपने महलमें सुखसे रहनेवाले चक्रवर्ती राजाको बाहर निकलना सुहाता ही नहीं, वैसे ही जो चैतन्यमहलमें विराज गये हैं उन्हें बाहर आना कठिन लगता है, भाररूप लगता है; आँखसे रेत उठवाने जैसा दुष्कर लगता है । जो स्वरूपमें ही आसक्त हुआ उसे बाहरकी आसक्ति टूट गई है।।७५।।

*

तस्वीर खींची जाती है वहाँ जैसे चेहरेके भाव होते

हैं तदनुसार स्वयमेव कागज पर चित्रित हो जाते हैं, कोई चित्रण करने नहीं जाता। उसी प्रकार कर्मके उदयरूप चित्रकारी सामने आये तब समझना कि मैंने जैसे भाव किये थे वैसा ही यह चित्रण हुआ है। यद्यपि आत्मा कर्ममें प्रवेश करके कुछ करता नहीं है, तथापि भावके अनुरूप ही चित्रण स्वयं हो जाता है। अब दर्शनरूप, ज्ञानरूप, चारित्ररूप परिणमन कर तो संवर-निर्जरा होगी। आत्माका मूल स्वभाव दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है, उसका अवलम्बन करने पर द्रव्यमें जो (शक्तिरूपसे) विद्यमान है वह (व्यक्तिरूपसे) प्रगट होगा।।७६।।

*

अनंत कालसे जीवको स्वसे एकत्व और परसे विभक्तपनेकी बात रुची ही नहीं। जीव बाहरसे भूसी कूटता रहता है परन्तु अंदरका जो कस—आत्मा—है उसे नहीं खोजता। राग-द्वेषकी भूसी कूटनेसे क्या लाभ है? उसमेंसे दाना नहीं निकलेगा। परसे एकत्व-बुद्धि तोड़कर भिन्न तत्त्वको—अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एवं असंयुक्त आत्माको—जाने, तो कार्य हो।।७७।

*

स्वरूपकी लीला जात्यंतर है। मुनिराज चैतन्यके बागमें क्रीड़ा करते-करते कर्मके फलका नाश करते हैं। बाह्यमें आसक्ति थी उसे तोड़कर स्वरूपमें मंथर—स्वरूपमें लीन—हो गये हैं। स्वरूप ही उनका आसन, स्वरूप ही निद्रा, स्वरूप ही आहार है; वे स्वरूपमें ही लीला, स्वरूपमें ही विचरण करते हैं। सम्पूर्ण श्रामण्य प्रगट करके वे लीलामात्रमें श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं।।७८।।

*

शुद्धस्वरूप आत्मामें मानों विकार अंदर प्रविष्ट हो गये हों ऐसा दिखायी देता है, परन्तु भेदज्ञान प्रगट करने पर वे ज्ञानरूपी चैतन्य-दर्पणमें प्रतिबिम्बरूप हैं। ज्ञान-वैराग्यकी अचिंत्य शक्तिसे पुरुषार्थकी धारा प्रगट कर। यथार्थ दृष्टि (द्रव्य पर दृष्टि) करके ऊपर आजा। चैतन्यद्रव्य निर्मल है। अनेक प्रकारके कर्मके उदय, सत्ता, अनुभाग तथा कर्मनिमित्तक विकल्प आदि तुझसे अत्यंत भिन्न हैं।।७९।।

*

विधि और निषेधके विकल्पजालको छोड़। मैं

बँधा हूँ, मैं बँधा नहीं हूँ—वह सब छोड़कर अंदर जा, अंदर जा; निर्विकल्प हो, निर्विकल्प हो।।८०।।

*

जैसे स्वभावसे निर्मल स्फटिकमें लाल-काले फूलके संयोगसे रंग दिखते हैं तथापि वास्तवमें स्फटिक रंगा नहीं गया है, वैसे ही स्वभावसे निर्मल आत्मामें क्रोध-मानादि दिखायी दें तथापि वास्तवमें आत्मद्रव्य उनसे भिन्न है। वस्तुस्वभावमें मलिनता नहीं है। परमाणु पलटकर वर्ण-गंध-रस-स्पर्शसे रहित नहीं होता वैसे ही वस्तुस्वभाव नहीं बदलता। यह तो परसे एकत्व तोड़नेकी बात है। अंतरमें वास्तविक प्रवेश कर तो (परसे) पृथक्ता हो।।८१।।

*

'मैं तो दर्पणकी भाँति अत्यंत स्वच्छ हूँ; विकल्पके जालसे आत्मा मलिन नहीं होता; मैं तो विकल्पसे भिन्न, निर्विकल्प आनन्दघन हूँ; ज्योंका त्यों पवित्र हूँ।'—इस प्रकार अपने स्वभावकी जातिको पहिचान। तू विकल्पसे मलिन होकर—मलिनता मानकर भ्रमणामें ठगा गया है; दर्पणकी भाँति जातिसे

तो स्वच्छ ही है। निर्मलताके भंडारको पहिचान तो एकके बाद एक निर्मलताकी पर्यायोंका समूह प्रगट होगा। अंतरमें ज्ञान और आनन्दादिकी निर्मलता ही भरी है।।८२।।

*

अंतरमें आत्मा मंगलस्वरूप है। आत्माका आश्रय करनेसे मंगलस्वरूप पर्यायें प्रगट होंगी। आत्मा ही मंगल, उत्तम और नमस्कार करने योग्य है—इस प्रकार यथार्थ प्रतीति कर और उसीका ध्यान कर तो मंगलता एवं उत्तमता प्रगट होगी।।८३।।

*

'मैं तो उदासीन ज्ञाता हूँ' ऐसी निवृत्त दशामें ही शान्ति है। स्वयं अपनेको जाने और परका अकर्ता हो तो मोक्षमार्गकी धारा प्रगटे और साधकदशाका प्रारम्भ हो।।८४।।

*

शुद्ध द्रव्य पर दृष्टि देनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होते हैं। वे न प्रगटें तब तक और बादमें भी देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा, स्वाध्याय आदि

साधन होते हैं। बाकी तो, जो जिसमें हो उसमेंसे वह आता है, जो जिसमें न हो वह उसमेंसे नहीं आता। अखण्ड द्रव्यके आश्रयसे सब प्रगट होता है। देव-गुरु मार्ग बतलाते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन कोई दे नहीं देता।।८५।।

*

दर्पणमें जब प्रतिबिम्ब पड़े उसी काल उसकी निर्मलता होती है, वैसे ही विभावपरिणामके समय ही तुझमें निर्मलता भरी है। तेरी दृष्टि चैतन्यकी निर्मलताको न देखकर विभावमें तन्मय हो जाती है, वह तन्मयता छोड़ दे।।८६।।

*

'मुझे परकी चिन्ताका क्या प्रयोजन? मेरा आत्मा सदैव अकेला है' ऐसा ज्ञानी जानते हैं। भूमिकानुसार शुभ भाव आयें परन्तु अंतरमें एकाकीपनेकी प्रतीतिरूप परिणति निरंतर बनी रहती है।।८७।।

*

मैं तो लेप रहित चैतन्यदेव हूँ। चैतन्यको जन्म

नहीं है, मरण नहीं है। चैतन्य तो सदा चैतन्य ही है। नवीन तत्त्व प्रगट हो तो जन्म कहलाये। चैतन्य तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे चाहे जैसे उदयमें सदा निर्लेप—अलिप्त ही है। फिर चिन्ता काहे की? मूल तत्त्वमें तो कुछ प्रविष्ट हो ही नहीं सकता।।८८।।

*

मुनिराजको एकदम स्वरूपरमणता जागृत है। स्वरूप कैसा है? ज्ञान, आनन्दादि गुणोंसे निर्मित है। पर्यायमें समताभाव प्रगट है। शत्रु-मित्रके विकल्प रहित है; निर्मानता है; 'देह जाय पर माया होय न रोममें'; सोना हो या तिनका—दोनों समान हैं। चाहे जैसे संयोग हों—अनुकूलतामें आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलतामें खेद नहीं करते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़े त्यों-त्यों समरसभाव विशेष प्रगट होता जाता है।।८९।।

*

संसारकी अनेक अभिलाषारूप क्षुधासे दुःखित मुसाफिर! तू विषयोंके लिये क्यों तरसता है? वहाँ तेरी भूख शांत नहीं होगी। अंतरमें अमृतफलोंका

चैतन्यवृक्ष लगा है उसे देख तो अनेक प्रकारके मधुर फल एवं रस तुझे प्राप्त होंगे, तू तृप्त-तृप्त हो जायगा।।९०।।

*

अहा! आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है, जिसका अवलोकन करनेसे मुनियोंको वैराग्य उछल पड़ता है। मुनि शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्रको निहारते हुए अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं।।९१।।

*

रोगमूर्ति शरीरके रोग पौद्‌गलिक हैं, आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। संसाररूपी रोग आत्माकी पर्यायमें हैं; 'मैं सहज ज्ञायकमूर्ति हूँ' ऐसी चैतन्यभावना, यही मनन, यही मंथन, ऐसी ही स्थिर परिणति करनेसे संसाररोगका नाश होता है।।९२।।

*

ज्ञानीको दृष्टि द्रव्यसामान्य पर ही स्थिर रहती है, भेदज्ञानकी धारा सतत बहती है।।९३।।

*

ध्रुवतत्त्वमें एकाग्रतासे ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विभावका अभाव होता है।।९४।।

*

मुनि असंगरूपसे आत्माकी साधना करते हैं, स्वरूपगुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनिका भावलिंग है।।९५।।

*

आत्मा ही एक सार है, अन्य सब निःसार है। सब चिन्ता छोड़कर एक आत्माकी ही चिन्ता कर। कुछ भी करके चैतन्यस्वरूप आत्माको पकड़; तभी तू संसाररूपी मगरके मुँहमेंसे छूट सकेगा।।९६।।

*

परपदार्थको जाननेसे ज्ञानमें उपाधि नहीं आ जाती। तीन काल, तीन लोकको जाननेसे सर्वज्ञता —ज्ञानकी परिपूर्णता सिद्ध होती है। वीतराग हो जाय उसे ज्ञानस्वभावकी परिपूर्णता प्रगट होती है।।९७।।

*

दृष्टि एवं ज्ञान यथार्थ कर। तू अपनेको भूल गया है। यदि बतलानेवाले (गुरु) मिलें तो तुझे उनकी दरकार नहीं है। जीवको रुचि हो तो गुरुवचनोंका विचार करे, स्वीकार करे और चैतन्यको पहिचाने।।९८।।

*

यह तो पंखीका मेला जैसा है। इकट्ठे हुए हैं वे सब अलग हो जायँगे। आत्मा एक शाश्वत है, अन्य सब अध्रुव है; बिखर जायगा। मनुष्य-जीवनमें आत्मकल्याण कर लेना योग्य है।।९९।।

*

'मैं अनादि-अनंत मुक्त हूँ'—इस प्रकार शुद्ध आत्मद्रव्य पर दृष्टि देनेसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। 'द्रव्य तो मुक्त है, मुक्तिकी पर्यायको आना हो तो आये' इस प्रकार द्रव्यके प्रति आलम्बन और पर्यायके प्रति उपेक्षावृत्ति होने पर स्वाभाविक शुद्ध पर्याय प्रगट होती ही है।।१००।।

*

सम्यग्दृष्टिको ऐसा निःशंक गुण होता है कि चौदह ब्रह्माण्ड उलट जायँ तथापि अनुभवमें शंका नहीं होती।।१०१।।

*

आत्मा सर्वोत्कृष्ट है, आश्चर्यकारी है। जगतमें उससे ऊँची वस्तु नहीं है। उसे कोई ले जा नहीं सकता। जो छूट जाती है वह तो तुच्छ वस्तु है; उसे छोड़ते हुए तुझे डर क्यों लगता है?।।१०२।।

*

यदि वर्तमानमें ही चैतन्यमें सम्पूर्णरूपसे स्थिर हुआ जा सकता हो तो दूसरा कुछ नहीं चाहिये ऐसी भावना सम्यग्दृष्टिके होती है।।१०३।।

*

'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा स्वीकार करनेसे पर्यायकी रचना शुद्ध ही होती है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।।१०४।।

*

आत्माने तो परमार्थसे त्रिकाल एक ज्ञायकपनेका ही वेश धारण किया हुआ है। ज्ञायक तत्त्वको परमार्थसे कोई पर्यायवेश नहीं है, कोई पर्याय-अपेक्षा नहीं है। आत्मा 'मुनि है' या 'केवलज्ञानी है' या 'सिद्ध है' ऐसी एक भी पर्याय-अपेक्षा वास्तवमें ज्ञायक पदार्थको नहीं है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।।१०५।।

*

चैतन्यस्वरूप आत्मा तेरा अपना है इसलिये उसे प्राप्त करना सुगम है। परपदार्थ परका है, अपना नहीं होता, अपना बनानेमें मात्र आकुलता होती है।।१०६।।

*

शाश्वत शुद्धिधाम ऐसा जो बलवान आत्मद्रव्य, उसकी दृष्टि प्रगट हुई तो शुद्ध पर्याय प्रगट होती ही है। विकल्पके भेदसे शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती। एकको ग्रहण किया उसमें सब आ जाता है। दृष्टिके साथ रहा हुआ सम्यग्ज्ञान विवेक करता है।।१०७।।

*

जगतमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो चैतन्यसे बढ़कर हो। तू इस चैतन्यमें—आत्मामें स्थिर हो, निवास कर। आत्मा दिव्य ज्ञानसे, अनंत गुणोंसे समृद्ध है। अहा! चैतन्यकी ऋद्धि अगाध है।।१०८।।

*

आत्मारूपी परमपवित्र तीर्थ है उसमें स्नान कर। आत्मा पवित्रतासे भरपूर है, उसके अंदर उपयोग लगा। आत्माके गुणोंमें सराबोर हो जा। आत्मतीर्थमें ऐसा स्नान कर कि पर्याय शुद्ध हो जाय और मलिनता दूर हो।।१०९।।

*

परम पुरुष तेरे निकट होने पर भी तूने देखा नहीं है। दृष्टि बाहरकी बाहर ही है।।११०।।

*

परमात्मा सर्वोत्कृष्ट कहलाता है। तू स्वयं ही परमात्मा है।।१११।।

*

सहज तत्त्व अखण्डित है। चाहे जितना काल गया, चाहे जितने विभाव हुए, तथापि परम पारिणामिक भाव ज्योंका त्यों अखण्ड रहा है; कोई गुण अंशतः भी खण्डित नहीं हुआ है।।११२।।

*

मुनि एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें स्वभावमें डुबकी लगाते हैं। अंतरमें निवासके लिये महल मिल गया है, उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता। मुनि किसी प्रकारका बोझ नहीं लेते। अन्दर जायें तो अनुभूति और बाहर आयें तो तत्त्वचिंतन आदि। साधकदशा इतनी बढ़ गई है कि द्रव्यसे तो कृतकृत्य हैं ही परन्तु पर्यायमें भी अत्यन्त कृतकृत्य हो गये हैं।।११३।।

*

जिसे भगवानका प्रेम हो वह भगवानको देखता रहता है, उसी प्रकार चैतन्यदेवका प्रेमी चैतन्य चैतन्य ही करता रहता है।।११४।।

*

गुणभेद पर दृष्टि करनेसे विकल्प ही उत्पन्न होता है, निर्विकल्पता—समरसता नहीं होती। एक चैतन्यको सामान्यरूपसे ग्रहण कर; उसमें मुक्तिका मार्ग प्रगट होगा। भिन्न-भिन्न ग्रहण करनेसे अशान्ति उत्पन्न होगी।।११५।।

*

चाहे जैसे संयोगमें आत्मा अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है।।११६।।

*

निरालम्ब चलना वह वस्तुका स्वभाव है। तू किसीके आश्रय बिना चैतन्यमें चला जा। आत्मा सदा अकेला ही है, आप स्वयंभू है। मुनियोंके मनकी गति निरालम्ब है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी निरालम्बी चाल प्रगट हुई उसे कोई रोकनेवाला नहीं है।।११७।।

*

जैसा कारण दे वैसा कार्य होता है। भव्य जीवको निष्कलंक परमात्माका ध्यान करनेसे

मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। शुद्धात्माका ध्यान करे उसे शुद्धता प्राप्त हो।।११८।।

*

गुरुकी वाणीसे जिसका हृदय बिंध गया है और जिसे आत्माकी लगन लगी है, उसका चित्त अन्यत्र कहीं नहीं लगता। उसे एक परमात्मा ही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं।।११९।।

*

पंच परमेष्ठीका ध्यान करता है, परन्तु ठेठ तलमेंसे शान्ति आना चाहिये वह नहीं आती। अनेक फल-फूलोंसे मनोहर वृक्षके समान अनंतगुणनिधि आत्मा अद्भुत है, उसके आश्रयमें रमनेसे सच्ची शान्ति प्रगट होती है।।१२०।।

*

आचार्यदेव करुणा करके जीवको जगाते हैं :—जाग रे! भाई, जाग। तुझे निद्रामें दिशा नहीं सूझती। तू अपनी भूलसे ही भटका है। तू स्वतंत्र द्रव्य है; भूल करनेमें भी स्वतंत्र है। तू परिभ्रमणके

समय भी शुद्ध पदार्थ रहा है । यह कोई महिमावान वस्तु तुझे बतला रहे हैं । तू अंदर गहराईमें उतरकर देख, असली तत्त्वको पहिचान । तेरा दुःख टलेगा, तू परम सुखी होगा ।।१२१।।

*

तू आत्मामें जा तो तेरा भटकना मिट जायगा । जिसे आत्मामें जाना हो वह आत्माका आधार लेता है ।।१२२।।

*

चैतन्यरूपी आकाशकी रम्यता सदाकाल जयवन्त है । जगतके आकाशमें चन्द्रमा और तारामण्डलकी रम्यता होती है, चैतन्य-आकाशमें अनेक गुणोंकी रम्यता है । वह रम्यता कोई और ही प्रकारकी है । स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट करनेसे वह रम्यता ज्ञात होती है । स्वानुभूतिकी रम्यता भी कोई और ही है, अनुपम है ।।१२३।।

*

शुद्ध आत्माका स्वरूप बतलानेमें गुरुके अनुभव-

पूर्वक निकले हुए वचन रामबाण जैसे हैं, उनसे मोह भाग जाता है और शुद्धात्मतत्त्वका प्रकाश होता है।।१२४।।

*

आत्मा न्यारे देशमें निवास करनेवाला है; पुद्गलका या वाणीका देश उसका नहीं है। चैतन्य चैतन्यमें ही निवास करनेवाला है। गुरु उसे ज्ञानलक्षण द्वारा बतलाते हैं। उस लक्षण द्वारा अंतरमें जाकर आत्माको ढूँढ़ ले।।१२५।।

*

पर्यायके ऊपरसे दृष्टि हटाकर द्रव्य पर दृष्टि लगाये तो मार्ग मिलता ही है। जिसे लगन लगी हो उसे पुरुषार्थ हुए बिना रहता ही नहीं। अंतरसे ऊब जाये, थकान लगे, सचमुचकी थकान लगे, तो पीछे मुड़े बिना न रहे।।१२६।।

*

कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। विभाव भी तेरे नहीं हैं तो बाह्य संयोग तो कहाँसे तेरे होंगे ?।।१२७।।

*

आत्मा तो ज्ञाता है। आत्माकी ज्ञातृत्वधाराको कोई रोक नहीं सकता। भले रोग आये या उपसर्ग आये, आत्मा तो निरोग और निरुपसर्ग है। उपसर्ग आया तो पांडवोंने अंतरमें लीनता की, तीनने तो केवलज्ञान प्रगट किया। अटके तो अपनेसे अटकता है, कोई अटकाता नहीं है।।१२८।।

*

भगवानकी आज्ञासे बाहर पाँव रखेगा तो डूब जायगा। अनेकान्तका ज्ञान कर तो तेरी साधना यथार्थ होगी।।१२९।।

*

निजचैतन्यदेव स्वयं चक्रवर्ती है, उसमेंसे अनंत रत्नोंकी प्राप्ति होगी। अनंत गुणोंकी जो ऋद्धि प्रगट होती है वह अपनेमें है।।१३०।।

*

शुद्धोपयोगसे बाहर मत आना; शुद्धोपयोग ही संसारसे बचनेका मार्ग है। शुद्धोपयोगमें न रह सके तो प्रतीति तो यथार्थ रखना ही। यदि

प्रतीतिमें फेर पड़ा तो संसार खड़ा है।।१३१।।

*

जैसे लेंडीपीपरकी घुटाई करनेसे चरपराहट प्रगट होती है, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभावकी घुटाई करनेसे अनंत गुण प्रगट होते हैं।।१३२।।

*

ज्ञानी चैतन्यकी शोभा निहारनेके लिये कुतूहल-बुद्धिवाले—आतुर होते हैं। अहो! उन परम पुरुषार्थी महाज्ञानियोंकी दशा कैसी होगी जो अंदर जाने पर बाहर आते ही नहीं! धन्य वह दिवस जब बाहर आना ही न पड़े।।१३३।।

*

मुनिने सर्व विभावों पर विजय पाकर प्रव्रज्यारूप साम्राज्य प्राप्त किया है। विजयपताका फहरा रही है।।१३४।।

*

एक-एक दोषको ढूँढ़-ढूँढ़कर टालना नहीं पड़ता। अंतरमें दृष्टि स्थिर करे तो गुणरत्नाकर प्रगट हो और

सर्व दोषोंका चूरा हो जाय । आत्मा तो अनादि-अनंत गुणोंका पिण्ड है।।१३५।।

*

सम्यक्त्वसे पूर्व भी विचार द्वारा निर्णय हो सकता है, 'यह आत्मा' ऐसा पक्का निर्णय होता है । भले अभी अनुभूति नहीं हुई हो तथापि पहले विकल्प सहित निर्णय होता तो है।।१३६।।

*

चैतन्यपरिणति ही जीवन है । बाह्यमें तो सब अनंत बार मिला, वह अपूर्व नहीं है, परन्तु अंतरका पुरुषार्थ ही अपूर्व है । बाह्यमें जो सर्वस्व मान लिया है उसे पलटकर स्वमें सर्वस्व मानना है।।१३७।।

*

रुचि रखना; रुचि ही काम करती है । पूज्य गुरुदेवने बहुत दिया है । वे अनेक प्रकारसे समझाते हैं । पूज्य गुरुदेवके वचनामृतोंके विचारका प्रयोग करना । रुचि बढ़ाते रहना । भेदज्ञान होनेमें तीक्ष्ण रुचि ही काम करती है । 'ज्ञायक', 'ज्ञायक',

'ज्ञायक'—उसीकी रुचि हो तो पुरुषार्थका झुकाव हुए बिना न रहे।।१३८।।

*

गहराईसे लगन लगाकर पुरुषार्थ करे तो वस्तु प्राप्त हुए बिना न रहे। अनादि कालसे लगन लगी ही नहीं है। लगन लगे तो ज्ञान और आनन्द अवश्य प्रगट हो।।१३९।।

*

'है', 'है', 'है' ऐसी 'अस्ति' ख्यालमें आती है न? 'ज्ञाता', 'ज्ञाता', 'ज्ञाता' है न? वह मात्र वर्तमान जितना 'सत्' नहीं है। वह तत्त्व अपनेको त्रिकाल सत् बतला रहा है, परन्तु तू उसकी मात्र 'वर्तमान अस्ति' मानता है! जो तत्त्व वर्तमानमें है वह त्रैकालिक होता ही है। विचार करनेसे आगे बढ़ा जाता है। अनंत कालमें सब कुछ किया, एक त्रैकालिक सत्की श्रद्धा नहीं की।।१४०।।

*

अज्ञानी जीवको अनादि कालसे विभावका अभ्यास

है; मुनिको स्वभावका अभ्यास वर्तता है । स्वयंने अपनी सहज दशा प्राप्त की है । उपयोग जरा भी बाहर जाय कि तुरन्त सहजरूपसे अपनी ओर ढल जाता है । बाहर आना पड़े वह बोझ—उपाधि लगती है । मुनियोंको अंतरमें सहज दशा—समाधि है।।१४१।।

*

हमेशा आत्माको ऊर्ध्व रखना चाहिये । सच्ची जिज्ञासा हो उसके प्रयास हुए बिना नहीं रहता।।१४२।।

*

स्वरूपकी शोधमें तन्मय होने पर, जो अनेक प्रकारके विकल्पजालमें फिरता था वह आत्माके सन्मुख होता है । आत्मस्वरूपका अभ्यास करनेसे गुणोंका विकास होता है।।१४३।।

*

सत्य समझनेमें देर भले ही लगे परन्तु फल आनन्द और मुक्ति है । आत्मामें एकाग्र हो वहाँ आनन्द झरता है।।१४४।।

*

रागका जीवन हो उसको आत्मामें जाना नहीं बनता; रागको मार दे तो अंतरमें जा सके।।१४५।।

*

कोई द्रव्य अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते। आत्मा तो परम शुद्ध तत्त्व है; उसमें क्षायोपशमिकादि भाव नहीं हैं। तू अपने स्वभावको पहिचान। अनंत गुणरत्नोंकी माला अंतरमें पड़ी है उसे पहिचान। आत्माका लक्षण—त्रैकालिक स्वरूप पहिचानकर प्रतीति कर।।१४६।।

*

आत्माके ज्ञानमें सब ज्ञान समा जाता है। एकको जाननेसे सब ज्ञात होता है। मूलको जाने बिना सब निष्फल है।।१४७।।

*

चैतन्यलोकमें अंदर जा। अलौकिक शोभासे भरपूर अनंत गुण चैतन्यलोकमें हैं; उसमें निर्विकल्प होकर जा, उसकी शोभा निहार।।१४८।।

*

राग़ी हूँ या नहीं—उन सब विकल्पोंके उस पार मैं शुद्ध तत्त्व हूँ। नयोंसे अतिक्रान्त चैतन्य विराजमान है। द्रव्यका अवलम्बन कर तो चैतन्य प्रगट होगा।।१४९।।

*

शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि प्रगट करके उस नौकामें बैठ गया वह तर गया।।१५०।।

*

एकदम पुरुषार्थ करके अपने चैतन्यस्वभावकी गहराईमें उतर जा। कहीं रुकना मत। अंतरसे खटका न जाय तब तक वीतराग दशा प्रगट नहीं होती। बाहुबलीजी जैसोंको भी एक विकल्पमें रुके रहनेसे वीतराग दशा प्रगट नहीं हुई! आँखमें किरकिरी नहीं समाती, वैसे ही आत्मस्वभावमें एक अणुमात्र भी विभाव नहीं पुसाता। जब तक संज्वलनकषायका अबुद्धिपूर्वकका अतिसूक्ष्म अंश भी विद्यमान हो तब तक पूर्णज्ञान—केवलज्ञान प्रगट नहीं होता।।१५१।।

*

आत्माको पहिचानकर स्वरूपरमणताकी प्राप्ति करना ही प्रायश्चित्त है।।१५२।।

*

राजाके दरबारमें जाना हो तो आसपास घूमता रहता है और फिर एक बार अन्दर घुस जाता है; उसी प्रकार स्वरूपके लिये देव-शास्त्र-गुरुकी समीपता रखकर अन्दर जाना सीखे तो एक बार निज घर देख ले।।१५३।।

*

जिसे जिसकी रुचि हो उसे वही सुहाता है, दूसरा बाधारूप लगता है। जिसे यह समझनेकी रुचि हो उसे दूसरा नहीं सुहाता। 'कल करूँगा, कल करूँगा' ऐसे वादे नहीं होते। अंतरमें प्रयास बना ही रहता है और ऐसा लगता है कि मुझे अब ही करना है।।१५४।।

*

जिसने भेदज्ञानकी विशेषता की है उसे चाहे जैसे परिषहमें आत्मा ही विशेष लगता है।।१५५।।

*

करना तो एक ही है—परसे एकत्व तोड़ना। परके साथ तन्मयता तोड़ना ही कार्य है। अनादि अभ्यास होनेसे जीव परके साथ एकाकार हो जाता है। पूज्य गुरुदेव मार्ग तो बिलकुल स्पष्ट बतला रहे हैं। अब जीवको स्वयं पुरुषार्थ करके, परसे भिन्न आत्मा अनंत गुणोंसे परिपूर्ण है उसमेंसे गुण प्रगट करना है।।१५६।।

*

महान पुरुषकी आज्ञा मानना, उनसे डरना, यह तो तुझे अपने अवगुणसे डरनेके समान है; उसमें तेरे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि अवगुण दबते हैं। सिर पर महान पुरुषके बिना तेरा कषायके रागमें—उसके वेगमें बह जाना संभव है और इसलिये तू अपने अवगुण स्वयं नहीं जान सकेगा। महान पुरुषकी शरण लेनेसे तेरे दोषोंका स्पष्टीकरण होगा तथा गुण प्रगट होंगे। गुरुकी शरण लेनेसे गुणनिधि चैतन्यदेवकी पहिचान होगी।।१५७।।

*

हे जीव! सुख अंतरमें है, बाहर कहाँ व्याकुल

होकर व्यर्थ प्रयत्न करता है? जिस प्रकार मरीचिकामेंसे कभी किसीको जल नहीं मिला है उसी प्रकार बाहर सुख है ही नहीं।।१५८।।

*

गुरु तेरे गुणोंके विकासकी कला बतलायँगे। गुरु-आज्ञामें रहना वह तो परम सुख है। कर्मजनित विभावमें जीव दब रहा है। गुरुकी आज्ञामें वर्तनेसे कर्म सहज ही दब जाते हैं और गुण प्रगट होते हैं।।१५९।।

*

जिस प्रकार कमल कीचड़ और पानीसे पृथक् ही रहता है उसी प्रकार तेरा द्रव्य कर्मके बीच रहते हुए भी कर्मसे भिन्न ही है; वह अतीत कालमें एकमेक नहीं था, वर्तमानमें नहीं है और भविष्यमें नहीं होगा। तेरे द्रव्यका एक भी गुण परमें मिल नहीं जाता। ऐसा तेरा द्रव्य अत्यन्त शुद्ध है उसे तू पहिचान। अपना अस्तित्व पहिचाननेसे परसे पृथक्त्व ज्ञात होता ही है।।१६०।।

*

संसारसे भयभीत जीवोंको किसी भी प्रकार आत्मार्थका पोषण हो ऐसा उपदेश गुरु देते हैं। गुरुका आशय समझनेके लिये शिष्य प्रयत्न करता है। गुरुकी किसी भी बातमें उसे शंका नहीं होती कि गुरु यह क्या कहते हैं! वह ऐसा विचारता है कि गुरु कहते हैं वह तो सत्य ही है, मैं नहीं समझ सकता वह मेरी समझका दोष है।।१६१।।

*

द्रव्य सदा निर्लेप है। स्वयं ज्ञाता भिन्न ही तैरता है। जिस प्रकार स्फटिकमें प्रतिबिम्ब दिखने पर भी स्फटिक निर्मल है, उसी प्रकार जीवमें विभाव ज्ञात होने पर भी जीव निर्मल है—निर्लेप है। ज्ञायकरूप परिणमित होने पर पर्यायमें निर्लेपता होती है। 'ये सब जो कषाय—विभाव ज्ञात होते हैं वे ज्ञेय हैं, मैं तो ज्ञायक हूँ' ऐसा पहिचाने—परिणमन करे तो प्रगट निर्लेपता होती है।।१६२।।

*

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप, अनंत अनुपम गुणवाला चमत्कारिक पदार्थ है। ज्ञायकके साथ ज्ञान ही नहीं,

दूसरे अनंत आश्चर्यकारी गुण हैं जिनकी किसी अन्य पदार्थके साथ तुलना नहीं हो सकती। निर्मल पर्यायरूप परिणमित होने पर, जिस प्रकार कमल सर्व पंखुरियोंसे खिल उठता है उसी प्रकार आत्मा गुणरूपी अनंत पंखुरियोंसे खिल उठता है।।१६३।।

*

चैतन्यद्रव्य पूर्ण निरोग है। पर्यायमें रोग है। शुद्ध चैतन्यकी भावना ऐसी उत्तम औषधि है जिससे पर्यायरोग मिट जाये। शुद्ध चैतन्यभावना वह शुद्ध परिणमन है, शुभाशुभ परिणमन नहीं है। उससे अवश्य संसार-रोग मिटता है। वीतराग देव तथा गुरुके वचनामृतोंका हार्द समझकर शुद्ध चैतन्य-भावनारूप उपादान-औषधका सेवन किया जाय तो भवरोग मिटता है; इसलिये वीतरागके वचनामृतोंको भवरोगके निमित्त-औषध कहे गये हैं।।१६४।।

*

जिसे चैतन्यदेवकी महिमा नहीं है उसे अंतरमें निवास करना दुर्लभ है।।१६५।।

*

हे शुद्धात्मा! तू मुक्तस्वरूप है। तुझे पहिचाननेसे पाँच प्रकारके परावर्तनोंसे छुटकारा होता है इसलिये तू सम्पूर्ण मुक्तिका दाता है। तुझ पर निरंतर दृष्टि रखनेसे, तेरी शरणमें आनेसे, जन्म-मरण मिटते हैं।।१६६।।

*

वाणी और विभावोंसे भिन्न तथापि कथंचित् गुरु-वचनोंसे ज्ञात हो सके ऐसा जो चैतन्यतत्त्व उसकी अगाधता, अपूर्वता, अचिंत्यता गुरु बतलाते हैं। शुभाशुभ भावोंसे दूर चैतन्यतत्त्व अपनेमें निवास करता है ऐसा भेदज्ञान गुरुवचनों द्वारा करके जो शुद्धदृष्टिवान हो उसे यथार्थ दृष्टि होती है, लीनताके अंश बढ़ते हैं, मुनिदशामें अधिक लीनता होती है और केवलज्ञान प्रगट होकर परिपूर्ण मुक्तिपर्याय प्राप्त होती है।।१६७।।

*

सम्यग्दर्शन होते ही जीव चैतन्यमहलका स्वामी बन गया। तीव्र पुरुषार्थीको महलका अस्थिरतारूप कचरा निकालनेमें कम समय लगता है, मन्द

पुरुषार्थीको अधिक समय लगता है; परन्तु दोनों अल्प-अधिक समयमें सब कचरा निकालकर केवलज्ञान अवश्य प्राप्त करेंगे ही।।१६८।।

*

विभावोंमें और पाँच परावर्तनोंमें कहीं विश्रान्ति नहीं है। चैतन्यगृह ही सच्चा विश्रान्तिगृह है। मुनिवर उसमें बारम्बार निर्विकल्परूपसे प्रवेश करके विशेष विश्राम पाते हैं। बाहर आये नहीं कि अन्दर चले जाते हैं।।१६९।।

*

एक चैतन्यको ही ग्रहण कर। सर्व ही विभावोंसे परिमुक्त, अत्यन्त निर्मल निज परमात्मतत्त्वको ही ग्रहण कर, उसीमें लीन हो, एक परमाणुमात्रकी भी आसक्ति छोड़ दे।।१७०।।

*

एक म्यानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं। चैतन्यकी महिमा और संसारकी महिमा दो एकसाथ नहीं रह सकतीं। कुछ जीव मात्र क्षणिक वैराग्य करते हैं कि संसार अशरण है, अनित्य है, उन्हें

चैतन्यकी समीपता नहीं होती। परन्तु चैतन्यकी महिमापूर्वक जिसे विभावोंकी महिमा छूट जाय, चैतन्यकी कोई अपूर्वता लगनेसे संसारकी महिमा छूट जाय, वह चैतन्यके समीप आता है। चैतन्य तो कोई अपूर्व वस्तु है; उसकी पहिचान करनी चाहिये, महिमा करनी चाहिये।।१७१।।

*

जैसे कोई राजमहलको पाकर फिर बाहर आये तो खेद होता है, वैसे ही सुखधाम आत्माको प्राप्त करके बाहर आ जाने पर खेद होता है। शांति और आनन्दका स्थान आत्मा ही है, उसमें दुःख एवं मलिनता नहीं है—ऐसी दृष्टि तो ज्ञानीको निरंतर रहती है।।१७२।।

*

आँखमें किरकिरी नहीं समाती, उसी प्रकार विभावका अंश हो तब तक स्वभावकी पूर्णता नहीं होती। अल्प संज्वलनकषाय भी है तब तक वीतरागता और केवलज्ञान नहीं होता।।१७३।।

*

'मैं हूँ चैतन्य'। जिसे घर नहीं मिला है ऐसे मनुष्यको बाहर खड़े-खड़े बाहरकी वस्तुएँ, धमाल देखने पर अशान्ति रहती है; परन्तु जिसे घर मिल गया है उसे घरमें रहते हुए बाहरकी वस्तुएँ, धमाल देखने पर शान्ति रहती है; उसी प्रकार जिसे चैतन्यघर मिल गया है, दृष्टि प्राप्त हो गई है, उसे उपयोग बाहर जाय तब भी शान्ति रहती है।।१७४।।

*

साधक जीवको अपने अनेक गुणोंकी पर्यायें निर्मल होती हैं, खिलती हैं। जिस प्रकार नन्दनवनमें अनेक वृक्षोंके विविध प्रकारके पत्र-पुष्प-फलादि खिल उठते हैं, उसी प्रकार साधक आत्माको चैतन्यरूपी नन्दनवनमें अनेक गुणोंकी विविध प्रकारकी पर्यायें खिल उठती हैं।।१७५।।

*

मुक्तदशा परमानन्दका मंदिर है। उस मंदिरमें निवास करनेवाले मुक्त आत्माको असंख्य प्रदेशोंमें अनन्त आनन्द परिणमित होता है। इस मोक्षरूप परमानन्दमन्दिरका द्वार साम्यभाव है। ज्ञायकभावरूप

परिणमित होकर विशेष स्थिरता होनेसे साम्यभाव प्रगट होता है।।१७६।।

*

चैतन्यकी स्वानुभूतिरूप खिले हुए नन्दनवनमें साधक आत्मा आनन्दमय विहार करता है। बाहर आने पर कहीं रस नहीं आता।।१७७।।

*

पहले ध्यान सच्चा नहीं होता। पहले ज्ञान सच्चा होता है कि—मैं इन शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि सबसे पृथक् हूँ; अंतरमें जो विभाव होता है वह मैं नहीं हूँ; ऊँचेसे ऊँचे जो शुभभाव वह मैं नहीं हूँ; मैं तो सबसे भिन्न ज्ञायक हूँ।।१७८।।

*

ध्यान वह साधकका कर्तव्य है। परन्तु वह तुझसे न हो तो श्रद्धा तो बराबर अवश्य करना। तुझमें अगाध शक्ति भरी है; उसका यथार्थ श्रद्धान तो अवश्य करने योग्य है।।१७९।।

*

उपयोग अंतरमें जाय वहाँ समस्त नयपक्ष छूट जाते हैं; आत्मा जैसा है वैसा अनुभवमें आता है। जिस प्रकार गुफामें जाना हो तो वाहन प्रवेशद्वार तक आता है, फिर अपने अकेलेको अन्दर जाना पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्यकी गुफामें जीव स्वयं अकेला अन्दर जाता है, भेदवाद सब छूट जाते हैं। पहिचाननेके लिये यह सब आता है कि 'चेतन कैसा है', 'यह ज्ञान है', 'यह दर्शन है', 'यह विभाव है', 'यह कर्म है', 'यह नय है', परन्तु जहाँ अन्दर प्रवेश करे वहाँ सब छूट जाते हैं। एक-एक विकल्प छोड़ने जाय तो कुछ नहीं छूटता, अन्दर जाने पर सब छूट जाता है।।१८०।।

*

निर्विकल्प दशामें 'यह ध्यान है, यह ध्येय है' ऐसे विकल्प टूट चुकते हैं। यद्यपि ज्ञानीको सविकल्प दशामें भी दृष्टि तो परमात्मतत्त्व पर ही होती है, तथापि पंच परमेष्ठी, ध्याता-ध्यान-ध्येय इत्यादि सम्बन्धी विकल्प भी होते हैं; परन्तु निर्विकल्प स्वानुभूति होने पर विकल्पजाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प नहीं रहते। उग्र निर्विकल्प दशामें

ही मुक्ति है ।—ऐसा मार्ग है।।१८१।।

*

'विकल्प छोड़ दूँ', 'विकल्प छोड़ दूँ'—ऐसा करनेसे विकल्प नहीं छूटते । मैं यह ज्ञायक हूँ, अनंत विभूतिसे भरपूर तत्त्व हूँ—इस प्रकार अंतरसे भेदज्ञान करे तो उसके बलसे निर्विकल्पता हो, विकल्प छूट जायँ।।१८२।।

*

चैतन्यदेव रमणीय है, उसे पहिचान । बाहर रमणीयता नहीं है । शाश्वत आत्मा रमणीय है, उसे ग्रहण कर । क्रियाकाण्डके आडंबर, विविध विकल्परूप कोलाहल, उस परसे दृष्टि हटा ले; आत्मा आडंबर रहित, निर्विकल्प है, वहाँ दृष्टि लगा; चैतन्यरमणता रहित विकल्पोंके कोलाहलमें तुझे थकान लगेगी, विश्राम नहीं मिलेगा; तेरा विश्रामगृह आत्मा है; उसमें जा तो तुझे थकान नहीं लगेगी, शान्ति प्राप्त होगी।।१८३।।

*

चैतन्यकी ओर झुकनेका प्रयत्न होने पर उसमें

ज्ञानकी वृद्धि, दर्शनकी वृद्धि, चारित्रकी वृद्धि–सर्ववृद्धि होती है; अंतरमें आवश्यक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, व्रत, तप सब प्रगट होता है। बाह्य क्रियाकाण्ड तो परमार्थतः कोलाहल है। शुभ भाव भूमिकानुसार आते हैं परन्तु वह शान्तिका मार्ग नहीं है। स्थिर होकर अंतरमें बैठ जाना वही कर्तव्य है।।१८४।।

*

मुनिराज कहते हैं :—चैतन्यपदार्थ पूर्णतासे भरा है। उसके अन्दर जाना और आत्मसम्पदाकी प्राप्ति करना वही हमारा विषय है। चैतन्यमें स्थिर होकर अपूर्वताकी प्राप्ति नहीं की, अवर्णनीय समाधि प्राप्त नहीं की, तो हमारा जो विषय है वह हमने प्रगट नहीं किया। बाहरमें उपयोग आता है तब द्रव्य-गुण-पर्यायके विचारोंमें रुकना होता है, किन्तु वास्तवमें वह हमारा विषय नहीं है। आत्मामें नवीनताओंका भण्डार है। भेदज्ञानके अभ्यास द्वारा यदि वह नवीनता—अपूर्वता प्रगट नहीं की, तो मुनिपनेमें जो करना था वह हमने नहीं किया।।१८५।।

*

गृहस्थाश्रममें वैराग्य होता है परन्तु मुनिराजका वैराग्य कोई और ही होता है। मुनिराज तो वैराग्य-महलके शिखरके शिखामणि हैं।।१८६।।

*

मुनि आत्माके अभ्यासमें परायण हैं। वे बारम्बार आत्मामें जाते हैं। सविकल्प दशामें भी मुनिपनेकी मर्यादा लाँघकर विशेष बाहर नहीं जाते। मर्यादा छोड़कर विशेष बाहर जायँ तो अपनी मुनिदशा ही न रहे।।१८७।।

*

जो न हो सके वह कार्य करनेकी बुद्धि करना मूर्खताकी बात है। अनादिसे यह जीव जो नहीं हो सकता उसे करनेकी बुद्धि करता है और जो हो सकता है वह नहीं करता। मुनिराजको परके कर्तृत्वकी बुद्धि तो छूट गई है और आहार-विहारादिके अस्थिरतारूप विकल्प भी बहुत ही मंद होते हैं। उपदेशका प्रसंग आये तो उपदेश देते हैं, परन्तु विकल्पका जाल नहीं चलता।।१८८।।

*

अपनी दृष्टिकी डोर चैतन्य पर बाँध दे। पतंग आकाशमें उड़ायें परन्तु डोर हाथमें रहती है, उसी प्रकार दृष्टिकी डोर चैतन्यमें बाँध दे, फिर भले उपयोग बाहर जाता हो। अनादि-अनंत अद्‌भुत आत्माका—परम पारिणामिक भावरूप अखण्ड एक भावका—अवलम्बन ले। परिपूर्ण आत्माका आश्रय करेगा तो पूर्णता आयगी। गुरुकी वाणी प्रबल निमित्त है परन्तु समझकर आश्रय तो अपनेको ही करना है।।१८९।।

*

मैंने अनादिकालसे सब बाहर-बाहरका ग्रहण किया—बाहरका ज्ञान किया, बाहरका ध्यान किया, बाहरका मुनिपना धारण किया, और मान लिया कि मैंने बहुत किया। शुभभाव किये परन्तु दृष्टि पर्याय पर थी। अगाध शक्तिवान जो चैतन्यचक्रवर्ती उसे नहीं पहिचाना, नहीं ग्रहण किया। सामान्यस्वरूपको ग्रहण नहीं किया, विशेषको ग्रहण किया।।१९०।।

*

दृष्टिकी डोर हाथमें रख। सामान्य स्वरूपको ग्रहण कर, फिर भले ही सब ज्ञान हो। ऐसा करते-करते

अंतरमें विशेष लीनता होगी, साधक दशा बढ़ती जायगी। देशव्रत और महाव्रत सामान्य स्वरूपके आलम्बनसे आते हैं; मुख्यता निरंतर सामान्य स्वरूपकी—द्रव्यकी होती है।।१९१।।

*

आत्मा तो निवृत्तस्वरूप—शान्तस्वरूप है। मुनिराजको उसमेंसे बाहर आना प्रवृत्तिरूप लगता है। उच्चसे उच्च शुभभाव भी उन्हें बोझरूप लगते हैं—मानों पर्वत उठाना हो। शाश्वत आत्माकी ही उग्र धुन लगी है। आत्माके प्रचुर स्वसंवेदनमेंसे बाहर आना नहीं सुहाता।।१९२।।

*

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायकको ज्ञायक द्वारा ही अपनेमें धारण कर रखता है, टिकाए रखता है, स्थिर रखता है—ऐसी सहज दशा होती है।

सम्यग्दृष्टि जीवको तथा मुनिको भेदज्ञानकी परिणति तो चलती ही रहती है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थको उसकी दशाके अनुसार उपयोग अंतरमें जाता है और

बाहर आता है; मुनिराजको तो उपयोग अति शीघ्रतासे बारम्बार अंतरमें उतर जाता है। भेद-ज्ञानकी परिणति—ज्ञातृत्वधारा—दोनोंके चलती ही रहती है। उन्हें भेदज्ञान प्रगट हुआ तबसे कोई काल पुरुषार्थ रहित नहीं होता। अविरत सम्यग्दृष्टिको चौथे गुणस्थानके अनुसार और मुनिको छठवें-सातवें गुणस्थानके अनुसार पुरुषार्थ वर्तता रहता है। पुरुषार्थके बिना कहीं परिणति स्थिर नहीं रहती। सहज भी है, पुरुषार्थ भी है।।१९३।।

*

पूज्य गुरुदेवने मोक्षका शाश्वत मार्ग अंतरमें बतलाया है, उस मार्ग पर जा।।१९४।।

*

सबको एक ही करना है :—प्रतिक्षण आत्माको ही ऊर्ध्व रखना, आत्माकी ही प्रमुखता रखना। जिज्ञासुकी भूमिकामें भी आत्माको ही अधिक रखनेका अभ्यास करना।।१९५।।

*

स्वरूप तो सहज ही है, सुगम ही है; अनभ्यासके कारण दुर्गम लगता है। कोई दूसरेकी संगतमें पड़ गया हो तो उसे वह संग छोड़ना दुष्कर मालूम होता है; वास्तवमें दुष्कर नहीं है, आदतके कारण दुष्कर मानता है। परसंग छोड़कर स्वयं स्वतंत्ररूपसे अलग रहना उसमें दुष्करता कैसी? वैसे ही अपना स्वभाव प्राप्त करना उसमें दुष्करता कैसी? वह तो सुगम ही होगा न? १९६।।

*

प्रज्ञाछैनीको शुभाशुभ भाव और ज्ञानकी सूक्ष्म अंतःसंधिमें पटकना। उपयोगको बराबर सूक्ष्म करके उन दोनोंकी संधिमें सावधान होकर उसका प्रहार करना। सावधान होकर अर्थात् बराबर सूक्ष्म उपयोग करके, बराबर लक्षण द्वारा पहिचानकर।

अभ्रकके पर्त कितने पतले होते हैं, किन्तु उन्हें बराबर सावधानीपूर्वक अलग किया जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म उपयोग करके स्वभाव-विभावके बीच प्रज्ञा द्वारा भेद कर। जिस क्षण विभावभाव वर्तता है उसी समय ज्ञातृत्वधारा द्वारा स्वभावको भिन्न जान ले। भिन्न ही है परन्तु तुझे नहीं भासता।

विभाव और ज्ञायक हैं तो भिन्न-भिन्न ही;—जैसे पाषाण और सोना एकमेक दिखने पर भी भिन्न ही हैं तदनुसार ।

प्रश्न :—सोना तो चमकता है इसलिये पत्थर और सोना—दोनों भिन्न ज्ञात होते हैं, परन्तु यह कैसे भिन्न ज्ञात हों ?

उत्तर :—यह ज्ञान भी चमकता ही है न ? विभावभाव नहीं चमकते किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही चमकता है—ज्ञात होता है । ज्ञानकी चमक चारों ओर फैल रही है । ज्ञानकी चमक बिना सोनेकी चमक काहेमें ज्ञात होगी ?

जैसे सच्चे मोती और खोटे मोती इकट्ठे हों तो मोतीका पारखी उसमेंसे सच्चे मोतियोंको अलग कर लेता है, उसी प्रकार आत्माको 'प्रज्ञासे ग्रहण करना' । जो जाननेवाला है सो मैं, जो देखनेवाला है सो मैं—इस प्रकार उपयोग सूक्ष्म करके आत्माको और विभावको पृथक् किया जा सकता है । यह पृथक् करनेका कार्य प्रज्ञासे ही होता है । व्रत, तप या त्यागादि भले हों, परन्तु वे साधन नहीं होते, साधन तो प्रज्ञा ही है ।

स्वभावकी महिमासे परपदार्थोंके प्रति रसबुद्धि—सुखबुद्धि टूट जाती है। स्वभावमें ही रस आता है, दूसरा सब नीरस लगता है। तभी अंतरकी सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है। ऐसा नहीं होता कि परमें तीव्र रुचि हो और उपयोग अंतरमें प्रज्ञाछैनीका कार्य करे।।१९७।।

*

ज्ञातापनेके अभ्याससे ज्ञातापना प्रगट होने पर कर्तापना छूटता है। विभाव अपना स्वभाव नहीं है इसलिये कहीं आत्मद्रव्य स्वयं उछलकर विभावमें एकमेक नहीं हो जाता, द्रव्य तो शुद्ध रहता है; मात्र अनादिकालीन मान्यताके कारण 'पर ऐसे जड़ पदार्थको मैं करता हूँ, रागादि मेरा स्वरूप हैं, मैं सचमुच विभावका कर्ता हूँ' इत्यादि भ्रमणा हो रही है। यथार्थ ज्ञातृत्वधारा प्रगट हो तो कर्तापना छूटता है।।१९८।।

*

जीवको अटकनेके जो अनेक प्रकार हैं उन सबमेंसे विमुख हो और मात्र चैतन्यदरबारमें ही

उपयोगको लगा दे; अवश्य प्राप्ति होगी ही। अनन्त-अनन्त कालसे अनंत जीवोंने इसी प्रकार पुरुषार्थ किया है, इसलिये तू भी ऐसा कर।

अनन्त-अनन्त काल गया, जीव कहीं न कहीं अटकता ही है न? अटकनेके तो अनेक-अनेक प्रकार हैं; किन्तु सफल होनेका एक ही प्रकार है—वह है चैतन्यदरबारमें जाना। स्वयं कहाँ अटकता है उसका यदि स्वयं ख्याल करे तो बराबर जान सकता है।

द्रव्यलिंगी साधु होकर भी जीव कहीं सूक्ष्मरूपसे अटक जाता है, शुभ भावकी मिठासमें रुक जाता है, 'यह रागकी मंदता, यह अट्ठाईस मूलगुण,—बस यही मैं हूँ, यही मोक्षका मार्ग है', इत्यादि किसी प्रकार संतुष्ट होकर अटक जाता है; परन्तु यह अंतरमें विकल्पोंके साथ एकताबुद्धि तो पड़ी ही है उसे क्यों नहीं देखता? अंतरमें यह शांति क्यों नहीं दिखायी देती? पापभावको त्यागकर 'सर्वस्व कर लिया' मानकर संतुष्ट हो जाता है। सच्चे आत्मार्थीको तथा सम्यग्दृष्टिको तो 'अभी बहुत बाकी है, बहुत बाकी है'—इस प्रकार पूर्णता तक बहुत

बाकी है ऐसी ही भावना रहती है और तभी पुरुषार्थ अखण्ड रह पाता है ।

गृहस्थाश्रममें सम्यक्त्वीने मूलको पकड़ लिया है, (दृष्टि-अपेक्षासे) सब कुछ कर लिया है, अस्थिरतारूप शाखाएें-पत्ते जरूर सूख जायँगे । द्रव्यलिंगी साधुने मूलको ही नहीं पकड़ा है; उसने कुछ किया ही नहीं । बाह्यदृष्टि लोगोंको ऐसा भले ही लगे कि 'सम्यक्त्वीको अभी बहुत बाकी है और द्रव्यलिंगी मुनिने बहुत कर लिया'; परन्तु ऐसा नहीं है । परिषह सहन करे किन्तु अंतरमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं टूटी, आकुलताका वेदन होता है, उसने कुछ किया ही नहीं ।।१९९।।

*

शुद्धनयकी अनुभूति अर्थात् शुद्धनयके विषयभूत अबद्धस्पृष्टादिरूप शुद्ध आत्माकी अनुभूति सो सम्पूर्ण जिनशासनकी अनुभूति है । चौदह ब्रह्माण्डके भाव उसमें आ गये । मोक्षमार्ग, केवलज्ञान, मोक्ष इत्यादि सब जान लिया । 'सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व'— अनंत गुणोंका अंश प्रगट हुआ; समस्त लोका-

लोकका स्वरूप ज्ञात हो गया।

जिस मार्गसे यह सम्यक्त्व हुआ उसी मार्गसे मुनिपना और केवलज्ञान होगा—ऐसा ज्ञात हो गया। पूर्णताके लक्षसे प्रारंभ हुआ; इसी मार्गसे देशविरतिपना, मुनिपना, पूर्ण चारित्र एवं केवलज्ञान—सब प्रगट होगा।

नमूना देखनेसे पूरे मालका पता चल जाता है। दूजके चन्द्रकी कला द्वारा पूरे चन्द्रका ख्याल आ जाता है। गुड़की एक डलीमें पूरी गुड़की पारीका पता लग जाता है। वहाँ (दृष्टान्तमें) तो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं और यह तो एक ही द्रव्य है। इसलिये सम्यक्त्वमें चौदह ब्रह्माण्डके भाव आ गये। इसी मार्गसे केवलज्ञान होगा। जिस प्रकार अंश प्रगट हुआ उसी प्रकार पूर्णता प्रगट होगी। इसलिये शुद्धनयकी अनुभूति अर्थात् शुद्ध आत्माकी अनुभूति वह सम्पूर्ण जिनशासनकी अनुभूति है।।२००।।

*

अपरिणामी निज आत्माका आश्रय लेनेको कहा जाता है वहाँ अपरिणामी मानें पूर्ण ज्ञायक; शास्त्रमें

निश्चयनयके विषयभूत जो अखण्ड ज्ञायक कहा है वही यह ‘अपरिणामी’ निजात्मा।

प्रमाण-अपेक्षासे आत्मद्रव्य मात्र अपरिणामी ही नहीं है, अपरिणामी तथा परिणामी है। परन्तु अपरिणामी तत्त्व पर दृष्टि देनेसे परिणाम गौण हो जाते हैं; परिणाम कहीं चले नहीं जाते। परिणाम कहाँ चले जायँ? परिणमन तो पर्यायस्वभावके कारण होता ही रहता है, सिद्धमें भी परिणति तो होती है।

परन्तु अपरिणामी तत्त्व पर—ज्ञायक पर—दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है। इसलिये ‘यह मेरी ज्ञानकी पर्याय’ ‘यह मेरी द्रव्यकी पर्याय’ इस प्रकार पर्यायमें किसलिये रुकता है? निष्क्रिय तत्त्व पर—तल पर—दृष्टि स्थापित कर न!

परिणाम तो होते ही रहेंगे। परन्तु, यह मेरी अमुक गुणपर्याय हुई, यह मेरे ऐसे परिणाम हुए—ऐसा जोर किसलिये देता है? पर्यायमें—पलटते अंशमें—द्रव्यका परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य थोड़ा ही आता है? उस परिपूर्ण नित्य सामर्थ्यका अवलम्बन कर न!

ज्ञानानन्दसागरकी तरंगोंको न देखकर उसके दल पर दृष्टि स्थापित कर। तरंगें तो उछलती ही रहेंगी; तू उनका अवलम्बन किसलिये लेता है?

अनंत गुणोंके भेद परसे भी दृष्टि हटा ले। अनंत गुणमय एक नित्य निजतत्त्व—अपरिणामी अभेद एक दल—उसमें दृष्टि दे। पूर्ण नित्य अभेदका जोर ला; तू ज्ञाताद्रष्टा हो जायगा।।२०१।।

*

दृढ़ प्रतीति करके, सूक्ष्म उपयोगवाला होकर, द्रव्यमें गहरे उतर जा, द्रव्यके पातालमें जा। वहाँसे तुझे शान्ति एवं आनन्द प्राप्त होगा। खूब धीर-गंभीर होकर द्रव्यके तलका स्पर्श कर।।२०२।।

*

यह सर्वत्र—बाहर—स्थूल उपयोग हो रहा है, उसे सब जगहसे उठाकर, अत्यन्त धीर होकर, द्रव्यको पकड़। वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, द्रव्येन्द्रिय भी नहीं और भावेन्द्रिय भी द्रव्यका स्वरूप नहीं है। यद्यपि भावेन्द्रिय है तो जीवकी ही पर्याय,

परन्तु वह खण्डखण्डरूप है, क्षायोपशमिक ज्ञान है और द्रव्य तो अखण्ड एवं पूर्ण है, इसलिये भावेन्द्रियके लक्षसे भी वह पकड़में नहीं आता। इन सबसे उस पार द्रव्य है। उसे सूक्ष्म उपयोग करके पकड़॥२०३॥

*

आत्मा तो अनंत शक्तियोंका पिण्ड है। आत्मामें दृष्टि स्थापित करने पर अंतरसे ही बहुत विभूति प्रगट होती है। उपयोगको सूक्ष्म करके अंतरमें जानेसे बहुत-सी स्वभावभूत ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रगट होती हैं। अंतरमें तो आनन्दका सागर है। ज्ञानसागर, सुख-सागर—यह सब भीतर आत्मामें ही हैं। जैसे सागरमें चाहे जितनी जोरदार लहरें उठती रहें तथापि उसमें न्यूनता-अधिकता नहीं होती, उसी प्रकार अनंत-अनंत काल तक केवलज्ञान बहता रहे तब भी द्रव्य तो ज्योंका त्यों ही रहता है॥२०४॥

*

चैतन्यकी अगाधता, अपूर्वता और अनंतता बतलानेवाले गुरुके वचनों द्वारा शुद्धात्मदेवको बराबर

जाना जा सकता है। चैतन्यकी महिमापूर्वक संसारकी महिमा छूटे तभी चैतन्यदेव समीप आता है।

हे शुद्धात्मदेव! तेरी शरणमें आनेसे ही यह पंचपरावर्तनरूपी रोग शान्त होता है। जिसे चैतन्यदेवकी महिमा आयी उसे संसारकी महिमा छूट ही जाती है। अहो! मेरे चैतन्यदेवमें तो परम विश्रान्ति है, बाहर निकलने पर तो अशान्तिका ही अनुभव होता है।

मैं निर्विकल्प तत्त्व ही हूँ। ज्ञानानन्दसे भरा हुआ जो निर्विकल्प तत्त्व, बस वही मुझे चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिये।।२०५।।

*

ज्ञानीने चैतन्यका अस्तित्व ग्रहण किया है। अभेदमें ही दृष्टि है : 'मैं तो ज्ञानानन्दमय एक वस्तु हूँ'। उसे विश्रान्तिका महल मिल गया है, जिसमें अनंत आनन्द भरा है। शान्तिका स्थान, आनन्दका स्थान—ऐसा पवित्र उज्ज्वल आत्मा है। वहाँ—ज्ञायकमें—रहकर ज्ञान सब करता है परन्तु दृष्टि तो अभेद पर ही है। ज्ञान सब करता है परन्तु दृष्टिका

जोर इतना है कि अपनेको अपनी ओर खींचता है।।२०६।।

*

हे जीव! अनंत कालमें शुद्धोपयोग नहीं किया इसलिये तेरी कर्मराशि क्षय नहीं हुई। तू ज्ञायकमें स्थिर हो जा तो एक श्वासोच्छ्वासमें तेरे कर्मोंका क्षय हो जायगा। तू भले ही एक है परन्तु तेरी शक्ति अनंत है। तू एक और कर्म अनंत; परन्तु अनंत शक्तिवान तू एक ही सबका सामना करनेके लिये पर्याप्त है। तू सोता है इसलिये सब आते हैं, तू जाग जाये तो सब अपने आप भाग जायँगे।।२०७।।

*

बाह्य दृष्टिसे कहीं अंतर्दृष्टि प्रगट नहीं होती। आत्मा बाहर नहीं है; आत्मा तो अंतरमें ही है। इसलिये तू अन्यत्र कहीं मत जाना, परिणामको कहीं भटकने मत देना; उन्हें एक आत्मामें ही बारम्बार लगा; बारम्बार वहीं जाना, उसीको ग्रहण करना। आत्माकी ही शरणमें जाना। बड़ेके आश्रयसे ही सब प्रगट होता है। अगाध शक्तिवान चैतन्यचक्रवर्तीको

ग्रहण कर। उस एकको ही ग्रहण कर। उपयोग बाहर जाये परन्तु चैतन्यका अवलम्बन उसे अंतरमें ही लाता है। बारम्बार....बारम्बार ऐसा करते.... करते....करते (स्वरूपमें लीनता जमते....जमते) क्षपकश्रेणी प्रगट होकर पूर्ण हो जाता है। जो वस्तु है उसी पर अपनी दृष्टिकी डोर बाँध, पर्यायके अवलम्बनसे कुछ नहीं होगा।।२०८।।

*

जैसे राजा अपने महलमें दूर-दूर अंतःपुरमें रहता है वैसे ही चैतन्यराजा दूर-दूर चैतन्यके महलमें ही निवास करता है; वहाँ जा।।२०९।।

*

तू स्वयं मार्ग जानता नहीं है और जाननेवालेको साथ नहीं रखेगा, तो तू एक डग भी कैसे भरेगा? तू स्वयं तो अंधा है, और यदि गुरुवाणी एवं श्रुतका अवलम्बन नहीं रखेगा, तो अंतरमें जो साधकका मार्ग है वह तुझे कैसे सूझेगा? सम्यक्त्व कैसे होगा? साधकपना कैसे आयगा? केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा?

अनंत कालका अनजाना मार्ग गुरुवाणी एवं आगमके बिना ज्ञात नहीं होता। सच्चा निर्णय तो स्वयं ही करना है परन्तु वह गुरुवाणी एवं आगमके अवलम्बनसे होता है। सच्चे निर्णयके बिना—सच्चे ज्ञानके बिना—सच्चा ध्यान नहीं हो सकता। इसलिये तू श्रुतके अवलम्बनको, श्रुतके चिंतवनको साथ ही रखना।

श्रवणयोग हो तो तत्कालबोधक गुरुवाणीमें और स्वाध्याययोग हो तो नित्यबोधक ऐसे आगममें प्रवर्तन रखना। इनके अतिरिक्त कालमें भी गुरुवाणी एवं आगम द्वारा बतलाये गये भगवान आत्माके विचार और मंथन रखना।।२१०।।

*

वस्तुके स्वरूपको सब पहलुओंसे ज्ञानमें जानकर अभेदज्ञान प्रगट कर। अंतरमें समाये सो समाये; अनन्त-अनन्त काल तक अनन्त-अनन्त समाधिसुखमें लीन हुए। 'रे ज्ञानगुणसे रहित बहुजन पद नहीं यह पा सके'। इसलिये तू उस ज्ञानपदको प्राप्त कर। उस अपूर्व पदकी खबर बिना कल्पित ध्यान करे,

परन्तु चैतन्यदेवका स्वरूप क्या है, ऐसे रत्नराशि समान उसके अनंत गुणोंका स्वामी कैसा है—वह जाने बिना ध्यान कैसा? जिसका ध्यान करना है उस वस्तुको पहिचाने बिना, उसे ग्रहण किये बिना, ध्यान किसके आश्रयसे होगा? एकाग्रता कहाँ होगी? २११।।

*

एक सत्-लक्षण आत्मा—उसीका परिचय रखना। 'जैसा जिसको परिचय वैसी उसकी परिणति'। तू लोकाग्रमें विचरनेवाला लौकिक जनोंका संग करेगा तो वह तेरी परिणति पलट जानेका कारण बनेगा। जैसे जंगलमें सिंह निर्भयरूपसे विचरता है उसी प्रकार तू लोकसे निरपेक्षरूप अपने पराक्रमसे—पुरुषार्थसे—अंतरमें विचरना।।२१२।।

*

लोगोंका भय त्यागकर, शिथिलता छोड़कर, स्वयं दृढ़ पुरुषार्थ करना चाहिये। 'लोग क्या कहेंगे' ऐसा देखनेसे चैतन्यलोकमें नहीं पहुँचा जा सकता।

साधकको एक शुद्ध आत्माका ही सम्बन्ध होता है। निर्भयरूपसे उग्र पुरुषार्थ करना, बस! वही लोकाग्रमें जानेवाला साधक विचारता है।।२१३।।

*

सद्गुरुके उपदेशरूप निमित्तमें (निमित्तपनेकी) पूर्ण शक्ति है, परन्तु तू तैयार न हो तो?—तू आत्मदर्शन प्रगट न करे तो? अनन्त-अनन्त कालमें अनेक संयोग प्राप्त हुए परन्तु तूने अंतरमें डुबकी नहीं लगायी! तू अकेला ही है; सुख-दुःख भोगनेवाला, स्वर्ग या नरकमें गमन करनेवाला केवल तू अकेला ही है।

''मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे।।''

—तू अकेला ही मोक्ष जानेवाला है, इसलिये तू आत्मदर्शन प्रगट कर।

गुरुकी वाणी सुनकर विचार कर, प्रतीति कर और स्थिर हो; तो तुझे अनंत ज्ञान एवं सुखका धाम ऐसे निज आत्माके दर्शन होंगे।।२१४।।

*

मुमुक्षु जीव शुभमें लगता है, परन्तु अपनी शोधक वृत्ति बह न जाय—अपने सत्स्वरूपकी शोध चलती रहे इस प्रकार लगता है। शुद्धताका ध्येय छोड़कर शुभका आग्रह नहीं रखता।

तथा वह 'मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ' करके पर्यायकी अशुद्धताको भूल जाय—स्वच्छन्द हो जाय ऐसा नहीं करता; शुष्कज्ञानी नहीं हो जाता, हृदयको भीगा हुआ रखता है।।२१५।।

*

जो वास्तवमें संसारसे थक गया है उसीको सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। वस्तुकी महिमा बराबर ख्यालमें आ जाने पर वह संसारसे इतना अधिक थक जाता है कि 'मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, एक निज आत्मद्रव्य ही चाहिये' ऐसी दृढ़ता करके बस 'द्रव्य सो ही मैं हूँ' ऐसे भावरूप परिणमित हो जाता है, अन्य सब निकाल देता है।

दृष्टि एक भी भेदको स्वीकार नहीं करती। शाश्वत द्रव्य पर स्थिर हुई दृष्टि यह देखने नहीं बैठती कि 'मुझे सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान हुआ या

नहीं' । उसे—द्रव्यदृष्टिवान जीवको—खबर है कि अनंत कालमें अनंत जीवोंने इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जमाकर अनंत विभूति प्रगट की है । द्रव्यदृष्टि होने पर द्रव्यमें जो-जो हो वह प्रगट होता ही है; तथापि 'मुझे सम्यग्दर्शन हुआ, मुझे अनुभूति हुई' इस प्रकार दृष्टि पर्यायमें चिपकती नहीं है । वह तो प्रारंभसे पूर्णता तक, सबको निकालकर, द्रव्य पर ही जमी रहती है । किसी भी प्रकारकी आशा बिना बिलकुल निस्पृहभावसे ही दृष्टि प्रगट होती है ।।२१६।।

*

द्रव्यमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सब होने पर भी कहीं द्रव्य और पर्याय दोनों समान कोटिके नहीं हैं; द्रव्यकी कोटि उच्च ही है, पर्यायकी कोटि निम्न ही है । द्रव्यदृष्टिवानको अंतरमें इतना अधिक रस-कसयुक्त तत्त्व दिखायी देता है कि उसकी दृष्टि पर्यायमें नहीं चिपकती । भले ही अनुभूति हो, परन्तु दृष्टि अनुभूतिमें—पर्यायमें—चिपक नहीं जाती । 'अहा ! ऐसा आश्चर्यकारी द्रव्यस्वभाव प्रगट

हुआ अर्थात् अनुभवमें आया!’ ऐसा ज्ञान जानता है, परन्तु दृष्टि तो शाश्वत स्तंभ पर—द्रव्यस्वभाव पर—जमी सो जमी ही रहती है।।२१७।।

*

कोई एकान्तमें निवास करनेवाला—एकान्त-प्रिय—मनुष्य हो, उसे जबरन् बाह्य कार्यमें लगना पड़े तो वह ऊपरी दृष्टिसे लगता हुआ दिखता अवश्य है, परन्तु कौन जानता है कि वह बाह्यमें आया है या नहीं!! अथवा कोई अति दुर्बल मनुष्य हो और उसके सिर पर कोई कार्यका बोझ रख दे तो उसे कितना कठिन लगता है? उसी प्रकार ज्ञानीको ज्ञानधारा वर्तनेके कारण बाह्य कार्योंमें लगना बोझरूप लगता है।।२१८।।

*

चाहे जैसे कठिन समयमें अपने ज्ञान-ध्यानका समय निकाल लेना चाहिये। यह अमूल्य जीवन चला जा रहा है। इसे व्यर्थ नहीं गँवाना।।२१९।।

*

ज्ञायकपरिणतिका दृढ़ अभ्यास करो। शुभ

भावके कर्तृत्वमें भी समस्त लोकका कर्तृत्व समाया हुआ है।।२२०।।

*

सर्वस्वरूपसे उपादेय मात्र शुद्धोपयोग है। अंतर्मुहूर्तको नहीं किन्तु शाश्वत अंतरमें रह जाना वही निज स्वभाव है, वही कर्तव्य है।।२२१।।

*

मुनि बारम्बार आत्माके उपयोगकी आत्मामें ही प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी दशा निराली, परके प्रतिबंधसे रहित, केवल ज्ञायकमें प्रतिबद्ध, मात्र निजगुणोंमें ही रमणशील, निरालम्बी होती है। मुनिराज मोक्षपंथमें प्रयाण आरम्भ किया उसे पूर्ण करते हैं।।२२२।।

*

शुद्धात्मामें स्थिर होना वही कार्य है, वही सर्वस्व है। स्थिर हो जाना ही सर्वस्व है, शुभ भाव आये परन्तु वह सर्वस्व नहीं है।।२२३।।

*

अंतरात्मा तो दिन और रात अंतरंगमें आत्मा, आत्मा

और आत्मा—ऐसा करते-करते, अंतरात्मभावरूप परिणमते-परिणमते, परमात्मा हो जाता है।।२२४।।

*

अहा! अमोघ—रामबाण समान—गुरुवचन! यदि जीव तैयार हो तो विभाव टूट जाता है, स्वभाव प्रगट हो जाता है। अवसर चूकने जैसा नहीं है।।२२५।।

*

अपना अगाध गंभीर ज्ञायकस्वभाव पूर्ण रीतिसे देखने पर समस्त लोकालोक भूत-भविष्यकी पर्यायों सहित समयमात्रमें ज्ञात हो जाता है। अधिक जाननेकी आकांक्षासे बस होओ, स्वरूपनिश्चल ही रहना योग्य है।।२२६।।

*

शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी स्वानुभूति सुखरूप है। आत्मा स्वयमेव मंगलरूप है, आनन्दरूप है; इसलिये आत्माकी अनुभूति भी मंगलरूप एवं आनन्दरूप है।।२२७।।

*

आत्माके अस्तित्वको पहिचानकर स्वरूपमें स्थिर हो जा, बस!....तेरा अस्तित्व आश्चर्यकारी अनंत गुणपर्यायसे भरा है; उसका सम्पूर्ण स्वरूप भगवानकी वाणीमें भी पूरा नहीं आ सकता। उसका अनुभव करके उसमें स्थिर हो जा।।२२८।।

*

मुनिको संयम, नियम और तप—सबमें आत्मा समीप होता है। अहा! तू तो आत्माकी साधना करने निकला है.....वहाँ यह लौकिक जनोंके परिचयका रस क्यों?

तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःखसे छूटनेकी भावना हो, तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्माके संगमें रहना।

लौकिक संग तेरा पुरुषार्थ मंद होनेका कारण होगा। विशेष गुणीका संग तेरे चैतन्यतत्त्वको निहारनेकी परिणतिमें विशेष वृद्धिका कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्संगमें तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे, परन्तु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्संग करेगा तो अपनी परिणति मन्द पड़ जायगी।

—यह तो स्वरूपमें झूलते हुए मुनियोंको (आचार्यदेवकी) सीख है। निश्चय-व्यवहारकी संधि ही ऐसी है। इस प्रकार अपनी भूमिकानुसार सबको समझ लेना है।।२२९।।

*

आत्मा तो आश्चर्यकारी चैतन्यमूर्ति! प्रथम उसे चारों ओरसे पहिचानकर, पश्चात् नय-प्रमाणादिके पक्ष छोड़कर अंतरमें स्थिर हो जाना। तब अंतरसे ही मुक्त स्वरूप प्रगट होगा। स्वरूपमें स्थिर हुए ज्ञानी ही साक्षात् अतीन्द्रिय आनन्दामृतका अनुभव करते हैं—'त एव साक्षात् अमृतं पिबन्ति'।।२३०।।

*

आत्माके गुण गाते-गाते गुणी हो गया—भगवान हो गया; असंख्य प्रदेशोंमें अनंत गुणरत्नोंके कमरे सब खुल गये।।२३१।।

*

ज्ञाताका ध्यान करते-करते आत्मा ज्ञानमय हो गया, ध्यानमय हो गया—एकाग्रतामय हो गया।

अंदर चैतन्यके नन्दनवनमें उसे सब कुछ मिल गया; अब बाहर क्यों जाये? ग्रहण करने योग्य आत्माको ग्रहण कर लिया, छोड़ने योग्य सब छूट गया; अब किसलिये बाहर जाये ? २३२।।

*

अंदरसे ज्ञान एवं आनन्द असाधारणरूपसे पूर्ण प्रगट हुए उसे अब बाहरसे क्या लेना बाकी रहा ? निर्विकल्प हुए सो हुए, बाहर आते ही नहीं।।२३३।।

*

मुझे अभी बहुत करना बाकी है—ऐसा माननेवालेको ही आगे बढ़नेका अवकाश रहता है । अनंत कालमें 'मुझे आत्माका कल्याण करना है' ऐसे परिणाम जीवने अनेकों बार किये, परन्तु विविध शुभ भाव करके उनमें सर्वस्व मानकर वहाँ संतुष्ट हो गया । कल्याण करनेकी सच्ची विधि नहीं जानी।।२३४।।

*

स्वतःसिद्ध वस्तुका स्वभाव वस्तुसे प्रतिकूल क्यों होगा ? वस्तुका स्वभाव तो वस्तुके अनुकूल ही होता

है, प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। स्वतःसिद्ध वस्तु स्वयं अपनेको दुःखरूप हो ही नहीं सकती।।२३५।।

*

मलिनता टिकती नहीं है और मलिनता रुचती नहीं है; इसलिये मलिनता वस्तुका स्वभाव हो ही नहीं सकता।।२३६।।

*

हे आत्मा! यदि तुझे विभावसे छूटकर मुक्तदशा प्राप्त करनी हो तो चैतन्यके अभेद स्वरूपको ग्रहण कर। द्रव्यदृष्टि सर्व प्रकारकी पर्यायको दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्य स्वरूपको ग्रहण करती है; द्रव्यदृष्टिके विषयमें गुणभेद भी नहीं होते। ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट कर।

ऐसी दृष्टिके साथ वर्तता हुआ ज्ञान वस्तुमें विद्यमान गुणों तथा पर्यायोंको, अभेद तथा भेदको, विविध प्रकारसे जानता है। लक्षण, प्रयोजन इत्यादि अपेक्षासे गुणोंमें भिन्नता है और वस्तु-अपेक्षासे अभेद है ऐसा ज्ञान जानता है। 'इस आत्माकी यह पर्याय प्रगट हुई, यह सम्यग्दर्शन हुआ, यह मुनिदशा हुई,

यह केवलज्ञान हुआ'—इस प्रकार सब महिमावन्त पर्यायोंको तथा अन्य सर्व पर्यायोंको ज्ञान जानता है। ऐसा होने पर भी शुद्ध दृष्टि (सामान्यके सिवा) किसी प्रकारमें नहीं रुकती।

साधक जीवको भूमिकानुसार देव-गुरुकी महिमाके, श्रुतचिन्तवनके, अणुव्रत-महाव्रतके इत्यादि विकल्प होते हैं, परन्तु वे ज्ञायकपरिणतिको भाररूप हैं क्योंकि स्वभावसे विरुद्ध हैं। अपूर्ण दशामें वे विकल्प होते हैं; स्वरूपमें एकाग्र होने पर, निर्विकल्प स्वरूपमें निवास होने पर, वे सब छूट जाते हैं। पूर्ण वीतराग दशा होने पर सर्व प्रकारके रागका क्षय होता है।

—ऐसी साधकदशा प्रगट करने योग्य है।।२३७।।

*

यदि तुझे अपना परिभ्रमण मिटाना हो तो अपने द्रव्यको तीक्ष्ण बुद्धिसे पहिचान ले। यदि द्रव्य तेरे हाथमें आ गया तो तुझे मुक्तिकी पर्याय सहज ही प्राप्त हो जायगी।।२३८।।

*

शुभका व्यवहार भी असार है, उसमें रुकने जैसा नहीं है। कोई मनुष्य नगरका ध्येय बनाकर चलने लगे तो बीच-बीचमें ग्राम, खेत, वृक्षादि सब आते हैं, परन्तु वह सब छोड़ता जाता है; उसी प्रकार साधकको यह शुभादिका व्यवहार बीचमें आता है परन्तु साध्य तो पूर्ण शुद्धात्मा ही है। इसलिये वह व्यवहारको छोड़ता हुआ पूर्ण शुद्धात्मस्वरूपमें ही पहुँच जाता है।।२३९।।

*

अरे जीव! अनन्त-अनन्त काल बीत गया, तूने परका तो कभी कुछ किया ही नहीं; अंतरमें शुभाशुभ विकल्प करके जन्म-मरण किये हैं। अब अनंत गुणोंका पिण्ड ऐसा जो निज शुद्धात्मा उसे बराबर समझकर, उसीमें तीक्ष्ण दृष्टि करके, प्रयाण कर; उसीका श्रद्धान, उसकी अनुभूति, उसीमें विश्राम कर।।२४०।।

*

ओहो! यह तो भगवान आत्मा! सर्वांग सहजानन्दकी मूर्ति! जहाँसे देखो वहाँ आनन्द,

आनन्द और आनन्द। जैसे मिश्रीमें सर्वांग मिठास वैसे ही आत्मामें सर्वांग आनन्द।।२४१।।

*

चैतन्यदेवकी ओट ले, उसकी शरणमें जा; तेरे सब कर्म टूटकर नष्ट हो जायँगे। चक्रवर्ती मार्गसे निकले तो अपराधी लोग काँप उठते हैं, फिर यह तो तीन लोकका बादशाह—चैतन्यचक्रवर्ती! उसके समक्ष जड़कर्म खड़े ही कैसे रह सकते हैं? २४२।।

*

ज्ञायक आत्मा नित्य एवं अभेद है; दृष्टिके विषयभूत ऐसे उसके स्वरूपमें अनित्य शुद्धाशुद्ध पर्यायें या गुणभेद कुछ हैं ही नहीं। प्रयोजनकी सिद्धिके लिये यही परमार्थ-आत्मा है। उसीके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है।।२४३।।

*

ओहो! आत्मा तो अनन्त विभूतियोंसे भरपूर, अनंत गुणोंकी राशि, अनंत गुणोंका विशाल पर्वत है! चारों ओर गुण ही भरे हैं। अवगुण एक भी नहीं

है । ओहो ! यह मैं ? ऐसे आत्माके दर्शनके लिये जीवने कभी सच्चा कौतूहल ही नहीं किया ।।२४४।।

*

'मैं मुक्त ही हूँ । मुझे कुछ नहीं चाहिये । मैं तो परिपूर्ण द्रव्यको पकड़कर बैठा हूँ ।'—इस प्रकार जहाँ अंतरमें निर्णय करता है, वहाँ अनंत विभूति अंशतः प्रगट हो जाती है ।।२४५।।

*

आयुधशालामें चक्ररत्न प्रगट हुआ हो, फिर चक्रवर्ती आरामसे बैठा नहीं रहता, छह खण्डको साधने जाता है; उसी प्रकार यह चैतन्यचक्रवर्ती जागृत हुआ, सम्यग्दर्शनरूपी चक्ररत्न प्राप्त हुआ, अब तो अप्रमत्त भावसे केवलज्ञान ही लेगा ।।२४६।।

*

आत्मसाक्षात्कार ही अपूर्व दर्शन है । अनंत कालमें न हुआ हो ऐसा, चैतन्यतत्त्वमें जाकर जो दिव्य दर्शन हुआ, वही अलौकिक दर्शन है । सिद्धदशा तककी सर्व लब्धियाँ शुद्धात्मानुभूतिमें

जाकर मिलती हैं।।२४७।।

*

विश्वका अद्‌भुत तत्त्व तू ही है। उसके अंदर जाने पर तेरे अनंत गुणोंका बगीचा खिल उठेगा। वहीं ज्ञान मिलेगा, वहीं आनन्द मिलेगा; वहीं विहार कर। अनंत कालका विश्राम वहीं है।।२४८।।

*

तू अंतरमें गहरे-गहरे उतर जा, तुझे निज परमात्माके दर्शन होंगे। वहाँसे बाहर आना तुझे सुहायगा ही नहीं।।२४९।।

*

मुनियोंको अंतरमें पग-पग पर—पुरुषार्थकी पर्याय-पर्यायमें—पवित्रता झरती है।।२५०।।

*

द्रव्य उसे कहते हैं जिसके कार्यके लिये दूसरे साधनोंकी राह न देखना पड़े।।२५१।।

*

भेदज्ञानके लक्षसे विकल्पात्मक भूमिकामें आगमका चिंतवन मुख्य रखना। विशेष शास्त्रज्ञान मार्गकी चतुर्दिशा सूझनेका कारण बनता है; वह सत्-मार्गको सुगम बनाता है।।२५२।।

*

आत्माको तीन कालकी प्रतीति करनेके लिये ऐसे विकल्प नहीं करना पड़ते कि 'मैं भूतकालमें शुद्ध था, वर्तमानमें शुद्ध हूँ, भविष्यमें शुद्ध रहूँगा'; परन्तु वर्तमान एक समयकी प्रतीतिमें तीनों कालकी प्रतीति समा जाती है—आ जाती है।।२५३।।

*

जिस प्रकार जीवको अपनेमें होनेवाले सुख-दुःखका वेदन होता है वह किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता, उसी प्रकार अपनेको स्वानुभूति होती है वह किसीसे पूछना नहीं पड़ता।।२५४।।

*

अंतरका अपरिचित मार्ग; अंतरमें क्या घटमाल चलती है उसका आगम एवं गुरुकी वाणीसे ही निर्णय

किया जा सकता है। भगवानकी स्याद्‌वाद-वाणी ही तत्त्वका प्रकाशन कर सकती है। जिनेन्द्रवाणी और गुरुवाणीका अवलम्बन साथ रखना; तभी तू साधनाके डग भर सकेगा।।२५५।।

*

साधकदशाकी साधना ऐसी कर कि जिससे तेरा साध्य पूरा हो। साधकदशा भी अपना मूल स्वभाव तो है नहीं। वह भी प्रयत्नरूप अपूर्ण दशा है, इसलिये वह अपूर्ण दशा भी रखने योग्य तो है ही नहीं।।२५६।।

*

शुद्ध द्रव्यस्वभावकी दृष्टि करके तथा अशुद्धताको ख्यालमें रखकर तू पुरुषार्थ करना, तो मोक्ष प्राप्त होगा।।२५७।।

*

तू विचार कर, तेरे लिये दुनियामें एक आत्माके सिवा और कौन आश्चर्यकारी वस्तु है?—कोई नहीं। जगतमें तूने सब प्रकारके प्रयास किये, सब देखा, सब

किया, परन्तु एक ज्ञानस्वरूप, सुखस्वरूप, अनंतगुणमय ऐसे आत्माको कभी पहिचाना नहीं, उसे पहिचान। बस, वही एक करना बाकी रह जाता है।।२५८।।

*

किसी प्रकारकी प्रवृत्तिमें खड़ा रहना वह आत्माका स्वभाव नहीं है। एक आत्मामें ही रहना वह हितकारी, कल्याणकारी और सर्वस्व है।।२५९।।

*

शुद्धात्माको जाने बिना भले ही क्रियाके ढेर लगा दे, परन्तु उससे आत्मा नहीं जाना जा सकता; ज्ञानसे ही आत्मा जाना जा सकता है।।२६०।।

*

दृष्टि पूर्ण आत्मा पर रखकर तू आगे बढ़ तो सिद्ध भगवान जैसी दशा हो जायगी। यदि स्वभावमें अधूरापन मानेगा तो पूर्णताको कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिये तू अधूरा नहीं, पूर्ण है—ऐसा मान।।२६१।।

*

द्रव्य सूक्ष्म है; इसलिये उपयोगको सूक्ष्म कर तो सूक्ष्म द्रव्य पकड़में आयगा । सूक्ष्म द्रव्यको पकड़कर आरामसे आत्मामें बैठना वह विश्राम है।।२६२।।

*

साधना करनेवालेको कोई स्पृहा नहीं होती । मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिये, एक आत्मा ही चाहिये । इस क्षण वीतरागता होती हो तो दूसरा कुछ ही नहीं चाहिये; परन्तु अंतरमें नहीं रहा जाता, इसलिये बाहर आना पड़ता है । अभी केवलज्ञान होता हो तो बाहर ही न आयें।।२६३।।

*

तेरे चित्तमें जब तक दूसरा रंग समाया है, तब तक आत्माका रंग नहीं लग सकता । बाहरका सारा रस छूट जाय तो आत्मा—ज्ञायकदेव प्रगट होता है । जिसे गुणरत्नोंसे गुँथा हुआ आत्मा मिल जाय, उसे इन तुच्छ विभावोंसे क्या प्रयोजन? २६४।।

*

आत्मा जाननेवाला है, सदा जागृतस्वरूप ही है ।

जागृतस्वरूप ऐसे आत्माको पहिचाने तो पर्यायमें भी जागृति प्रगट हो। आत्मा जागती ज्योति है, उसे जान।।२६५।।

*

यदि तुझे जन्म-मरणका नाश करके आत्माका कल्याण करना हो तो इस चैतन्यभूमिमें खड़ा रहकर तू पुरुषार्थ कर; तेरे जन्म-मरणका नाश हो जायगा। आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं :—तू मुक्तस्वरूप आत्मामें निस्पृहतासे खड़ा रह। मोक्षकी स्पृहा और चिन्तासे भी मुक्त हो। तू स्वयमेव सुखरूप हो जायगा। तेरे सुखके लिये हम यह मार्ग बतला रहे हैं। बाहरके व्यर्थ प्रयत्नसे सुख नहीं मिलेगा।।२६६।।

*

ज्ञानी द्रव्यके आलम्बनके बलसे, ज्ञानमें निश्चय-व्यवहारकी मैत्रीपूर्वक, आगे बढ़ता जाता है और चैतन्य स्वयं अपनी अद्‌भुततामें समा जाता है।।२६७।।

*

बाह्य रोग आत्माकी साधक दशाको नहीं रोक

सकते, आत्माकी ज्ञातृत्वधाराको नहीं तोड़ सकते। पुद्गलपरिणतिरूप उपसर्ग कहीं आत्मपरिणतिको नहीं बदल सकते।।२६८।।

*

अहो! देव-शास्त्र-गुरु मंगल हैं, उपकारी हैं। हमें तो देव-शास्त्र-गुरुका दासत्व चाहिये।

पूज्य कहानगुरुदेवसे तो मुक्तिका मार्ग मिला है। उन्होंने चारों ओरसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित किया है। गुरुदेवका अपार उपकार है। वह उपकार कैसे भूला जाय?

गुरुदेवका द्रव्य तो अलौकिक है। उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारी है।

परम-उपकारी गुरुदेवका द्रव्य मंगल है, उनकी अमृतमयी वाणी मंगल है। वे मंगलमूर्ति हैं, भवोदधितारणहार हैं, महिमावन्त गुणोंसे भरपूर हैं।

पूज्य गुरुदेवके चरणकमलकी भक्ति और उनका दासत्व निरंतर हो।।२६९।।

*

अपनी जिज्ञासा ही मार्ग बना लेती है। शास्त्र साधन हैं, परन्तु मार्ग तो अपनेसे ही ज्ञात होता है। अपनी गहरी तीव्र रुचि और सूक्ष्म उपयोगसे मार्ग ज्ञात होता है। कारण देना चाहिये।।२७०।।

*

जिसकी जिसे तन्मयतासे लगन हो उसे वह नहीं भूलता। 'यह शरीर सो मैं' वह नहीं भूलता। नींदमें भी शरीरके नामसे बुलाये तो उत्तर देता है, क्योंकि शरीरके साथ तन्मयताकी मान्यताका अनादि अभ्यास है। अनभ्यस्त ज्ञायकके अन्दर जानेके लिये सूक्ष्म होना पड़ता है, धीर होना पड़ता है, स्थिर होना पड़ता है; वह कठिन लगता है। बाह्य कार्योंका अभ्यास है इसलिये सरल लगते हैं। लेकिन जब भी कर तब तुझे ही करना है।।२७१।।

*

जो खूब थका हुआ है, द्रव्यके सिवा जिसे कुछ चाहिये ही नहीं, जिसे आशा-पिपासा छूट गई है, द्रव्यमें जो हो वही जिसे चाहिये, वह सच्चा जिज्ञासु है।

द्रव्य जो कि शान्तिमय है वही मुझे चाहिये—ऐसी निस्पृहता आये तो द्रव्यमें गहरा जाये और सब पर्याय प्रगट हो।।२७२।।

*

गुरुके हितकारी उपदेशके तीक्ष्ण प्रहारोंसे सच्चे मुमुक्षुका आत्मा जाग उठता है और ज्ञायककी रुचि प्रगट होती है, बारम्बार चेतनकी ओर—ज्ञायककी ओर झुकाव होता है। जैसे भक्तको भगवान मुश्किलसे मिले हों तो उन्हें छोड़ना अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार 'हे चेतन', 'हे ज्ञायक'—ऐसा बारम्बार अंतरमें होता रहता है, उसी ओर रुचि बनी रहती है; 'चलते-फिरते प्रभुकी याद आये रे'—ऐसा बना रहता है।।२७३।।

*

अनंत कालमें चैतन्यकी महिमा नहीं आयी, विभावकी तुच्छता नहीं लगी, परसे और विभावसे विरक्तता नहीं हुई, इसलिये मार्ग नहीं मिला।।२७४।।

*

पंचम काल है इसलिये बाहर फेरफार होता है, परन्तु जिसे आत्माका कल्याण करना है उसे काल बाधक नहीं होता।।२७५।।

*

'शुभाशुभ भावसे भिन्न, मैं ज्ञायक हूँ' यह प्रत्येक प्रसंगमें याद रखना। भेदज्ञानका अभ्यास करना ही मनुष्यजीवनकी सार्थकता है।।२७६।।

*

परसे विरक्तता नहीं है, विभावकी तुच्छता नहीं लगती, अंतरमें इतनी उत्कंठा नहीं है; फिर कार्य कहाँसे हो? अंतरमें उत्कंठा जागृत हो तो कार्य हुए बिना रहता ही नहीं। स्वयं आलसी हो गया है। 'करूँगा, करूँगा' कहता है परन्तु करता नहीं है। कोई तो ऐसे आलसी होते हैं कि सोते हों तो बैठते नहीं हैं, और बैठे हों तो खड़े होनेमें आलस्य करते हैं; उसी प्रकार उत्कंठारहित आलसी जीव 'कल करूँगा, कल करूँगा' ऐसे मन्दरूप वर्तते हैं; वहाँ कलकी आज नहीं होती और जीवन समाप्त हो जाता है।।२७७।।

*

जैसे किसीको ग्रीष्मऋतुमें पर्वतके शिखर पर अधिक ताप और तीव्र तृषा लगी हो, उस समय पानीकी एक बूँदकी ओर भी उसका लक्ष जाता है और वह उसे लेनेको दौड़ता है, उसी प्रकार जिस जीवको संसारका ताप लगा हो और सत्‌की तीव्र पिपासा जागी हो, वह सत्‌की प्राप्तिके लिये उग्र प्रयत्न करता है । वह आत्मार्थी जीव 'ज्ञान'लक्षण द्वारा ज्ञायक आत्माकी प्रतीति करके अंतरसे उसके अस्तित्वको ख्यालमें ले, तो उसे ज्ञायक तत्त्व प्रगट हो ।।२७८।।

*

विचार, मंथन सब विकल्परूप ही है । उससे भिन्न विकल्पातीत एक स्थायी ज्ञायक तत्त्व सो आत्मा है । उसमें 'यह विकल्प तोड़ दूँ, यह विकल्प तोड़ दूँ' वह भी विकल्प ही है; उसके उस पार भिन्न ही चैतन्यपदार्थ है । उसका अस्तिपना ख्यालमें आये, 'मैं भिन्न हूँ, यह मैं ज्ञायक भिन्न हूँ' ऐसा निरंतर घोटन रहे, वह भी अच्छा है । पुरुषार्थकी उग्रता तथा उस प्रकारका आरंभ हो तो मार्ग निकलता ही है । पहले

विकल्प नहीं टूटता परन्तु पहले पक्का निर्णय आता है।।२७९।।

*

वास्तवमें जिसे स्वभाव रुचे, अंतरकी जागृति हो, उसे बाहर आना सुहाता ही नहीं। स्वभाव शान्ति एवं निवृत्तिरूप है, शुभाशुभ विभावभावोंमें आकुलता और प्रवृत्ति है; उन दोनोंका मेल ही नहीं बैठता।।२८०।।

*

बाहरके सब कार्योंमें सीमा—मर्यादा होती है। अमर्यादित तो अन्तर्ज्ञान और आनन्द है। वहाँ सीमा—मर्यादा नहीं है। अंतरमें—स्वभावमें मर्यादा नहीं होती। जीवको अनादि कालसे जो बाह्य वृत्ति है उसकी यदि मर्यादा न हो तब तो जीव कभी उससे विमुख ही न हो, सदा बाह्यमें ही रुका रहे। अमर्यादित तो आत्मस्वभाव ही है। आत्मा अगाध शक्तिसे भरा है।।२८१।।

*

यह जो बाह्य लोक है उससे चैतन्यलोक पृथक् ही है। बाह्यमें लोग देखते हैं कि 'इन्होंने ऐसा किया, ऐसा किया', परन्तु अंतरमें ज्ञानी कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, वह तो ज्ञानी स्वयं ही जानते हैं। बाहरसे देखनेवाले मनुष्योंको ज्ञानी बाह्यमें कुछ क्रियाएँ करते या विकल्पोंमें पड़ते दिखाई देते हैं, परन्तु अंतरमें तो वे कहीं चैतन्यलोककी गहराईमें विचरते हैं।।२८२।।

*

द्रव्य तो अनंत शक्तिका स्वामी है, महान है, प्रभु है। उसके सामने साधककी पर्याय अपनी पामरता स्वीकार करती है। साधकको द्रव्य-पर्यायमें प्रभुता और पामरताका ऐसा विवेक वर्तता है।।२८३।।

*

साधक दशा तो अधूरी है। साधकको जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, और चैतन्य आनन्दधाममें पूर्णरूपसे सदाके लिये विराजमान न हो जाय, तब तक पुरुषार्थकी धारा तो उग्र ही होती जाती है। केवलज्ञान होने पर एक समयका उपयोग होता है

और वह एक समयकी ज्ञानपर्याय तीन काल एवं तीन लोकको जान लेती है।।२८४।।

*

स्वयं परसे और विभावसे भिन्नताका विचार करना चाहिये। एकताबुद्धि तोड़ना वह मुख्य है। प्रतिक्षण एकत्वको तोड़नेका अभ्यास करना चाहिये।।२८५।।

*

यह तो अनादिका प्रवाह मोड़ना है। कार्य कठिन तो है, परन्तु स्वयं ही करना है। बाह्य आधार किस कामका? आधार तो अपने आत्मतत्त्वका लेना है।।२८६।।

*

द्रव्य सदा निर्लेप है। पर्यायमें सबसे निर्लेप रहने जैसा है। कहीं खेद नहीं करना, खिंचना नहीं—कहीं अधिक राग नहीं करना।।२८७।।

*

वस्तु सूक्ष्म है, उपयोग स्थूल हो गया है। सूक्ष्म

वस्तुको पकड़नेके लिये सूक्ष्म उपयोगका प्रयत्न कर।।२८८।।

*

चैतन्यकी गहरी भावना तो अन्य भवमें भी चैतन्यके साथ ही आती है । आत्मा तो शाश्वत पदार्थ है न? ऊपरी विचारोंमें नहीं परन्तु अंतरमें मंथन करके तत्त्वविचारपूर्वक गहरे संस्कार डाले होंगे तो वे साथ आयँगे ।

''तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।।''

जिस जीवने प्रसन्नचित्तसे इस चैतन्यस्वरूप आत्माकी बात भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्यमें होनेवाली मुक्तिका अवश्य भाजन होता है।।२८९।।

*

आत्मा ज्ञानप्रधान अनंत गुणोंका पिण्ड है । उसके साथ अंतरमें तन्मयता करना वही कर्तव्य है । वस्तुस्वरूपको समझकर 'मैं तो ज्ञायक हूँ' ऐसी लगन

लगाये तो ज्ञायकके साथ तदाकारता हो।।२९०।।

*

जिनेन्द्रमन्दिर, जिनेन्द्रप्रतिमा मंगलस्वरूप हैं; तो फिर समवसरणमें विराजमान साक्षात् जिनेन्द्रभगवानकी महिमा और उनके मंगलपनेका क्या कहना! सुरेन्द्र भी भगवानके गुणोंकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकते, तब दूसरे तो क्या कर सकेंगे? २९१।।

*

जिस समय ज्ञानीकी परिणति बाहर दिखायी दे उसी समय उन्हें ज्ञायक भिन्न वर्तता है। जैसे किसीको पड़ौसीके साथ बड़ी मित्रता हो, उसके घर जाता-आता हो, परन्तु वह पड़ौसीको अपना नहीं मान लेता, उसी प्रकार ज्ञानीको विभावमें कभी एकत्वपरिणमन नहीं होता। ज्ञानी सदा कमलकी भाँति निर्लेप रहते हैं, विभावसे भिन्नरूप ऊपर-ऊपर तैरते रहते हैं।।२९२।।

*

ज्ञानीको तो ऐसी ही भावना होती है कि इस

समय पुरुषार्थ चले तो इसी समय मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लें । बाहर आना पड़े वह अपनी निर्बलताके कारण है।।२९३।।

*

ज्ञानीको 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी धारावाही परिणति अखण्डित रहती है । वे भक्ति-शास्त्रस्वाध्याय आदि बाह्य प्रसंगोंमें उल्लासपूर्वक भाग लेते दिखायी देते हैं तब भी उनकी ज्ञायकधारा तो अखण्डितरूपसे अंतरमें भिन्न ही कार्य करती रहती है।।२९४।।

*

यद्यपि दृष्टि-अपेक्षासे साधकको किसी पर्यायका या गुणभेदका स्वीकार नहीं है तथापि उसे स्वरूपमें स्थिर हो जानेकी भावना तो वर्तती है । रागांशरूप बहिर्मुखता उसे दुःखरूपसे वेदनमें आती है और वीतरागता-अंशरूप अंतर्मुखता सुखरूपसे वेदनमें आती है । जो आंशिक बहिर्मुख वृत्ति वर्तती हो उससे साधक न्याराका न्यारा रहता है । आँखमें किरकिरी नहीं समाती उसी प्रकार चैतन्यपरिणतिमें विभाव नहीं समाता । यदि साधकको बाह्यमें—

प्रशस्त-अप्रशस्त रागमें—दुःख न लगे और अंतरमें —वीतरागतामें—सुख न लगे तो वह अंतरमें क्यों जाये? कहीं रागके विषयमें 'राग आग दहै' ऐसा कहा हो, कहीं प्रशस्त रागको 'विषकुम्भ' कहा हो, चाहे जिस भाषामें कहा हो, सर्वत्र भाव एक ही है कि—विभावका अंश वह दुःखरूप है। भले ही उच्चमें उच्च शुभभावरूप या अतिसूक्ष्म रागरूप प्रवृत्ति हो तथापि जितनी प्रवृत्ति उतनी आकुलता है और जितना निवृत्त होकर स्वरूपमें लीन हुआ उतनी शान्ति एवं स्वरूपानन्द है।।२९५।।

*

द्रव्य तो सूक्ष्म है, उसे पकड़नेके लिये सूक्ष्म उपयोग कर। पातालकुएँकी भाँति द्रव्यमें गहराई तक उतर जा तो अंतरसे विभूति प्रगट होगी। द्रव्य आश्चर्यकारी है।।२९६।।

*

तेरा कार्य तो तत्त्वानुसारी परिणमन करना है। जड़के कार्य तेरे नहीं हैं। चेतनके कार्य चेतन होते हैं। वैभाविक कार्य भी परमार्थसे तेरे नहीं हैं।

जीवनमें ऐसा ही घुट जाना चाहिये कि जड़ और विभाव वे पर हैं, मैं वह नहीं हूँ।।२९७।।

*

ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्माण्ड उलट जाये तब भी स्वयं नहीं पलटता; विभावके चाहे जितने उदय आयें तथापि चलित नहीं होता। बाहरके प्रतिकूल संयोगसे ज्ञायकपरिणति नहीं बदलती; श्रद्धामें फेर नहीं पड़ता। पश्चात् क्रमशः चारित्र बढ़ता जाता है।।२९८।।

*

वस्तु स्वतःसिद्ध है। उसका स्वभाव उसके अनुकूल होता है, प्रतिकूल नहीं। स्वतःसिद्ध आत्म-वस्तुका दर्शनज्ञानरूप स्वभाव उसे अनुकूल है, राग-द्वेषरूप विभाव प्रतिकूल है।।२९९।।

*

परिभ्रमण करते अनंत काल बीत गया। उस अनंत कालमें जीवने 'आत्माका करना है' ऐसी भावना तो की परन्तु तत्त्वरुचि और तत्त्वमंथन नहीं

किया। रुचनेमें तो एक आत्मा ही रुचे ऐसा जीवन बना लेना चाहिए।।३००।।

*

जीव राग और ज्ञानकी एकतामें उलझ गया है। निज अस्तित्वको पकड़े तो उलझन निकल जाये। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा अस्तित्व लक्षमें आना चाहिये। 'ज्ञायकके अतिरिक्त अन्य सब पर है' ऐसा उसमें आ जाता है।।३०१।।

*

ज्ञानीको संसारका कुछ नहीं चाहिये; वे संसारसे भयभीत हैं। वे संसारसे विमुख होकर मोक्षके मार्ग पर चल रहे हैं। स्वभावमें सुभट हैं, अंतरसे निर्भय हैं, किसीसे डरते नहीं हैं। किसी उपसर्गका भय नहीं है। मुझमें किसीका प्रवेश नहीं है—ऐसे निर्भय हैं। विभावको तो काले नागकी भाँति छोड़ दिया है।।३०२।।

*

सम्यग्दृष्टिको अखण्ड तत्त्वका आश्रय है, अखण्ड परसे दृष्टि छूट जाये तो साधकपना ही न रहे। दृष्टि

तो अंतरमें है। चारित्रमें अपूर्णता है। वह बाहर खड़ा दिखायी दे परन्तु दृष्टि तो स्वमें ही है।।३०३।।

*

भगवानकी प्रतिमा देखकर ऐसा लगे कि अहा! भगवान कैसे स्थिर हो गये हैं! कैसे समा गये हैं! चैतन्यका प्रतिबिम्ब है! तू ऐसा ही है! जैसे भगवान पवित्र हैं, वैसा ही तू पवित्र है, निष्क्रिय है, निर्विकल्प है। चैतन्यके सामने सब कुछ पानी भरता है।।३०४।।

*

तू अपनेको देख; जैसा तू है वैसा ही तू प्रगट होगा। तू महान देवाधिदेव है; उसकी प्रगटताके लिये उग्र पुरुषार्थ एवं सूक्ष्म उपयोग कर।।३०५।।

*

रुचिका पोषण और तत्त्वका मंथन चैतन्यके साथ एकाकार हो जाय तो कार्य होता ही है। अनादिके अभ्याससे विभावमें ही प्रेम लगा है उसे छोड़। जिसे आत्मा रुचता है उसे दूसरा नहीं रुचता और उससे आत्मा गुप्त—अप्राप्य नहीं रहता। जागता

जीव विद्यमान है वह कहाँ जायगा? अवश्य प्राप्त होगा ही।।३०६।।

*

तत्त्वका उपदेश असिधारा समान है; तदनुसार परिणमित होने पर मोह भाग जाता है।।३०७।।

*

द्रव्य-गुण-पर्यायमें सारे ब्रह्माण्डका तत्त्व आ जाता है। 'प्रत्येक द्रव्य अपने गुणोंमें रहकर स्वतंत्ररूपसे अपनी पर्यायरूप परिणमित होता है', 'पर्याय द्रव्यको पहुँचती है, द्रव्य पर्यायको पहुँचता है'—ऐसी-ऐसी सूक्ष्मताको यथार्थरूपसे लक्षमें लेने पर मोह कहाँ खड़ा रहेगा? ३०८।।

*

बकरियोंकी टोलीमें रहनेवाला पराक्रमी सिंहका बच्चा अपनेको बकरीका बच्चा मान ले, परन्तु सिंहको देखने पर और उसकी गर्जना सुनने पर 'मैं तो इस जैसा सिंह हूँ' ऐसा समझ जाता है और सिंहरूपसे पराक्रम प्रगट करता है, उसी प्रकार पर और विभावके बीच रहनेवाले इस जीवने अपनेको

पर एवं विभावरूप मान लिया है, परन्तु जीवका मूल स्वरूप बतलानेवाली गुरुकी वाणी सुनने पर वह जाग उठता है—'मैं तो ज्ञायक हूँ' ऐसा समझ जाता है और ज्ञायकरूप परिणमित हो जाता है।।३०९।।

*

चैतन्यलोक अद्‌भुत है। उसमें ऋद्धिकी न्यूनता नहीं है। रमणीयतासे भरे हुए इस चैतन्यलोकमेंसे बाहर आना नहीं सुहाता। ज्ञानकी ऐसी शक्ति है कि जीव एक ही समयमें इस निज ऋद्धिको तथा अन्य सबको जान ले। वह अपने क्षेत्रमें निवास करता हुआ जानता है; श्रम पड़े बिना, खेद हुए बिना जानता है। अंतरमें रहकर सब जान लेता है, बाहर झाँकने नहीं जाना पड़ता।।३१०।।

*

वस्तु तो अनादि-अनंत है। जो पलटता नहीं है—बदलता नहीं है उस पर दृष्टि करे, उसका ध्यान करे, वह अपनी विभूतिका अनुभव करता है।

बाह्यके अर्थात् विभावके आनन्द—सुखाभासके साथ, बाहरकी किसी वस्तुके साथ उसका मेल नहीं है। जो जानता है उसे अनुभवमें आता है। उसे किसीकी उपमा लागू नहीं होती।।३११।।

*

अनादि कालसे एकत्वपरिणमनमें सब एकमेक हो रहा है, उसमेंसे 'मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' इस प्रकार भिन्न होना है। गोसलियाके दृष्टान्तकी भाँति जीव विभावमें मिल गया है। जिस प्रकार गोसलियाने अपनी कलाईमें बँधा हुआ डोरा देखकर अपनेको भिन्न पहिचान लिया, उसी प्रकार 'ज्ञानडोरा'की ओर यथार्थ लक्ष करके 'मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' इस प्रकार अपनेको भिन्न पहिचान लेना है।।३१२।।

*

मार्गमें चलते हुए यदि कोई सज्जन साथी हो तो मार्ग सरलतासे कटता है। पंच परमेष्ठी सर्वोत्कृष्ट साथी हैं। इस कालमें हमें गुरुदेव उत्तम साथी मिले हैं। साथी भले हो, परन्तु मार्ग पर चलकर

ध्येय तक पहुँचना तो अपनेको ही है।।३१३।।

*

खण्डखण्डरूप ज्ञानका उपयोग भी परवशता है। परवश सो दुःखी और स्ववश सो सुखी है। शुद्ध शाश्वत चैतन्यतत्त्वके आश्रयरूप स्ववशतासे शाश्वत सुख प्रगट होता है।।३१४।।

*

द्रव्यदृष्टि शुद्ध अंतःतत्त्वका ही अवलम्बन करती है। निर्मल पर्याय भी बहिःतत्त्व है, उसका अवलम्बन द्रव्यदृष्टिमें नहीं है।।३१५।।

*

अपनी महिमा ही अपनेको तारती है। बाहरी भक्ति-महिमासे नहीं परन्तु चैतन्यकी परिणतिमें चैतन्यकी निज महिमासे तरा जाता है। चैतन्यकी महिमावंतको भगवानकी सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवानकी महिमा समझना वह निज चैतन्य-महिमाको समझनेमें निमित्त होता है।।३१६।।

*

मुनिराज वंदना-प्रतिक्रमणादिमें लाचारीसे युक्त होते हैं। केवलज्ञान नहीं होता इसलिये युक्त होना पड़ता है। भूमिकानुसार वह सब आता है परन्तु स्वभावसे विरुद्ध होनेके कारण उपाधिरूप लगता है। स्वभाव निष्क्रिय है उसमेंसे मुनिराजको बाहर आना नहीं सुहाता। जिसे जो कार्य न रुचे वह कार्य उसे भाररूप लगता है।।३१७।।

*

जीव अपनी लगनसे ज्ञायकपरिणतिको प्राप्त करता है। मैं ज्ञायक हूँ, मैं विभावभावसे भिन्न हूँ, किसी भी पर्यायमें अटकनेवाला मैं नहीं हूँ, मैं अगाध गुणोंसे भरा हूँ, मैं ध्रुव हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं परमपारिणामिकभाव हूँ—इस तरह, अनेक प्रकारके विचार सम्यक् प्रतीतिकी लगनवाले आत्मार्थीको आते हैं। परन्तु उनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली सम्यक् प्रतीतिका तो एक ही प्रकार होता है। प्रतीतिके लिये होनेवाले विचारोंके सर्व प्रकारोंमें 'मैं ज्ञायक हूँ' यह प्रकार मूलभूत है।।३१८।।

*

विभावसे पृथक् होकर चैतन्यतत्त्वको ग्रहण कर। यही करना है। पर्याय सन्मुख देखकर पर्यायमें कुछ नहीं करना है। द्रव्यदृष्टि करनेसे पर्यायमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ ही जायँगे। कुआँ खोद तो पानी आयगा ही, लेने नहीं जाना पड़ेगा। चैतन्यपाताल फूटने पर शुद्ध पर्यायका प्रवाह अपने-आप ही चलने लगेगा।।३१९।।

*

चैतन्यकी धरती तो अनंत गुणरूपी बीजसे भरी, उपजाऊ है। इस उपजाऊ धरतीको ज्ञान-ध्यानरूपी पानीसे सींचने पर वह लहलहा उठेगी।।३२०।।

*

पर्याय पर दृष्टि रखनेसे चैतन्य प्रगट नहीं होता, द्रव्यदृष्टि करनेसे ही चैतन्य प्रगट होता है। द्रव्यमें अनंत सामर्थ्य भरा है, उस द्रव्य पर दृष्टि लगाओ। निगोदसे लेकर सिद्ध तककी कोई भी पर्याय शुद्ध दृष्टिका विषय नहीं है। साधकदशा भी शुद्ध दृष्टिके विषयभूत मूल स्वभावमें नहीं है। द्रव्यदृष्टि करनेसे ही आगे बढ़ा जा सकता है, शुद्ध पर्यायकी दृष्टिसे

भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। द्रव्यदृष्टिमें मात्र शुद्ध अखण्ड द्रव्यसामान्यका ही स्वीकार होता है।।३२१।।

*

ज्ञानीकी दृष्टि अखण्ड चैतन्यमें भेद नहीं करती। साथमें रहनेवाला ज्ञान विवेक करता है कि 'यह चैतन्यके भाव हैं, यह पर है'। दृष्टि अखण्ड चैतन्यमें भेद करनेको खड़ी नहीं रहती। दृष्टि ऐसे परिणाम नहीं करती कि 'इतना तो सही, इतनी कचास तो है'। ज्ञान सभी प्रकारका विवेक करता है।।३२२।।

*

जिसने शान्तिका स्वाद चख लिया हो उसे राग नहीं पुसाता। वह परिणतिमें विभावसे दूर भागता है। जैसे एक ओर बर्फका ढेर हो और दूसरी ओर अग्नि हो तो उन दोनोंके बीच खड़ा हुआ मनुष्य अग्निसे दूर भागता हुआ बर्फकी ओर ढलता है, उसी प्रकार जिसने थोड़ा भी सुखका स्वाद चखा है, जिसे थोड़ी भी शान्तिका वेदन वर्त रहा है ऐसा

ज्ञानी जीव दाहसे अर्थात् रागसे दूर भागता है एवं शीतलताकी ओर ढलता है।।३२३।।

*

जैसे एक रत्नका पर्वत हो और एक रत्नका कण हो वहाँ कण तो नमूनेरूप है, पर्वतका प्रकाश और उसका मूल्य अत्यधिक होता है; उसी प्रकार केवलज्ञानकी महिमा श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अत्यधिक है। एक समयमें सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको सम्पूर्णरूपसे जाननेवाले केवलज्ञानमें और अल्प सामर्थ्यवाले श्रुतज्ञानमें—भले ही वह अंतर्मुहूर्तमें सर्व श्रुत फेरनेवाले श्रुतकेवलीका श्रुतज्ञान हो तथापि—बहुत बड़ा अंतर है। जहाँ ज्ञान अनंत किरणोंसे प्रकाशित हो उठा, जहाँ चैतन्यकी चमत्कारिक ऋद्धि पूर्ण प्रगट हो गई—ऐसे पूर्ण क्षायिक ज्ञानमें और खण्डात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानमें अनन्तगुना अंतर है।।३२४।।

*

ज्ञानीको स्वानुभूतिके समय या उपयोग बाहर आये तब दृष्टि तो सदा अंतस्तल पर ही लगी रहती

है। बाह्यमें एकमेक हुआ दिखायी दे तब भी वह तो (दृष्टि-अपेक्षासे) गहरी अंतर्गुफामेंसे बाहर निकलता ही नहीं।।३२५।।

*

जिसने तलको स्पर्श किया उसे बाहर सब थोथा लगता है। चैतन्यके तलमें पहुँच गया वह चैतन्यकी विभूतिमें पहुँच गया।।३२६।।

*

देवलोकमें उच्च प्रकारके रत्न और महल हों उससे आत्माको क्या? कर्मभूमिके मनुष्य भोजन पकाकर खाते हैं वहाँ भी आकुलता और देवोंके कण्ठमें अमृत झरता है वहाँ भी आकुलता ही है। छह खण्डको साधनेवाले चक्रवर्तीके राज्यमें भी आकुलता है। अंतरकी ऋद्धि न प्रगटे, शान्ति न प्रगटे, तो बाह्य ऋद्धि और वैभव क्या शान्ति देंगे? ३२७।।

*

मुनिदशाका क्या कहना! मुनि तो प्रमत्त-अप्रमत्तपनेमें सदा झूलनेवाले हैं! उन्हें तो सर्वगुण-

सम्पन्न कहा जा सकता है! ३२८।।

*

मुनिराज बारम्बार निर्विकल्परूपसे चैतन्यनगरमें प्रवेश करके अद्भुत ऋद्धिका अनुभव करते हैं। उस दशामें, अनन्त गुणोंसे भरपूर चैतन्यदेव भिन्न-भिन्न प्रकारकी चमत्कारिक पर्यायोंरूप तरंगोंमें एवं आश्चर्यकारी आनन्दतरंगोंमें डोलता है। मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि जीवका यह स्वसंवेदन कोई और ही है, वचनातीत है। वहाँ शून्यता नहीं है, जागृतरूपसे अलौकिक ऋद्धिका अत्यन्त स्पष्ट वेदन है। तू वहाँ जा, तुझे चैतन्यदेवके दर्शन होंगे।।३२९।।

*

अहो! मुनिराज तो निजात्मधाममें निवास करते हैं। उसमें विशेष-विशेष एकाग्र होते-होते वे वीतरागताको प्राप्त करते हैं।

वीतरागता होनेसे उन्हें ज्ञानकी अगाध अद्भुत शक्ति प्रगट होती है। ज्ञानका अंतर्मुहूर्तका स्थूल उपयोग छूटकर एक समयका सूक्ष्म उपयोग हो जाता है। वह ज्ञान अपने क्षेत्रमें रहकर सर्वत्र पहुँच जाता

है—लोकालोकको जान लेता है, भूत-वर्तमान-भविष्यकी सर्व पर्यायोंको क्रम पड़े बिना एक समयमें वर्तमानवत् जानते हैं, स्वपदार्थ तथा अनन्त परपदार्थोंकी तीनों कालकी पर्यायोंके अनंत-अनंत अविभाग प्रतिच्छेदोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानते हैं।—ऐसे अचिंत्य महिमावंत केवलज्ञानको वीतराग मुनिराज प्राप्त करते हैं।

केवलज्ञान प्रगट होने पर, जैसे कमल हजार पंखुरियोंसे खिल उठता है तदनुसार, दिव्यमूर्ति चैतन्यदेव अनंत गुणोंकी अनंत पंखुरियोंसे खिल उठता है। केवलज्ञानी भगवान चैतन्यमूर्तिके ज्ञान-आनन्दादि अनंत गुणोंकी पूर्ण पर्यायोंमें सादि-अनंत केलि करते हैं; निजधामके भीतर शाश्वतरूपसे विराज गये हैं, उसमेंसे कभी बाहर आते ही नहीं।।३३०।।

*

कहीं रुके बिना 'ज्ञायक हूँ' इस प्रकार बारम्बार श्रद्धा और ज्ञानमें निर्णय करनेका प्रयत्न करना। ज्ञायकका घोटन करते रहना।।३३१।।

*

एकान्तसे दुःखके बलसे अलग हो ऐसा नहीं है, परन्तु द्रव्यदृष्टिके बलसे अलग होता है । दुःख लगता हो, सुहाता न हो, परन्तु आत्माको पहिचाने बिना—जाने बिना जाय कहाँ ? आत्माको जाना हो, उसका अस्तित्व ग्रहण किया हो, तभी अलग होता है।।३३२।।

*

चेतकर रहना । 'मुझे आता है' ऐसे जानकारीके गर्वके मार्ग पर नहीं जाना । विभावके मार्ग पर तो अनादिसे चल ही रहा है । वहाँसे रोकनेके लिये सिर पर गुरु होना चाहिये । एक अपनी लगाम और दूसरी गुरुकी लगाम हो तो जीव पीछे मुड़े ।

जानकारीके मानसे दूर रहना अच्छा है । बाह्य प्रसिद्धिके प्रसंगोंसे दूर भागनेमें लाभ है । वे सब प्रसंग निःसार हैं; सारभूत एक आत्मस्वभाव है।।३३३।।

*

आत्मार्थीको श्री गुरुके सान्निध्यमें पुरुषार्थ सहज ही होता है । मैं तो सेवक हूँ—यह दृष्टि रहना चाहिये । 'मैं कुछ हूँ' ऐसा भाव हो तो सेवकपना छूट जाता है । सेवक होकर रहनेमें लाभ है । सेवकपनेका भाव

गुणसमुद्र आत्मा प्रगटनेका निमित्त होता है।।३३४।।

*

बाहरके चाहे जैसे संयोगमें धर्मको नहीं छोड़ना, चैतन्यके ओरकी रुचि नहीं छोड़ना। धर्म या रुचि छूटी तो अमूल्य मनुष्यभव हार गये।।३३५।।

*

कर्मोंके विविध विपाकमें ज्ञायकभाव चलित नहीं होता। जिस प्रकार कीचड़में कमल निर्लेप रहता है, उसी प्रकार चैतन्य भी चाहे जैसे कर्मसंयोगमें निर्लेप रहता है।।३३६।।

*

द्रव्यको ग्रहण करनेसे शुद्धता प्रगट हो, चारित्रदशा प्रगट हो, परन्तु ज्ञानी उन पर्यायोंमें नहीं रुकते। आत्मद्रव्यमें बहुत पड़ा है, बहुत भरा है, उस आत्मद्रव्यके ऊपरसे ज्ञानीकी दृष्टि नहीं हटती। यदि पर्यायमें रुकें, पर्यायमें चिपक जायँ, तो मिथ्यात्वमें आ जायँ।।३३७।।

*

शुभभावमें श्रम पड़ता है, थकान लगती है; क्योंकि वह आत्माका स्वभाव नहीं है। शुद्धभाव आत्माका स्वाधीन स्वभाव होनेसे उसमें थकान नहीं लगती। जितना स्वाधीन उतना सुख है। स्वभावके सिवा सब दुःख ही है।।३३८।।

*

यह तो गुत्थी सुलझाना है। चैतन्यडोरेमें अनादिकी गुत्थी पड़ी है। सूतकी लच्छीमें गुत्थी पड़ गई हो उसे धैर्यपूर्वक सुलझाये तो सिरा हाथमें आये और गुत्थी सुलझ जाय, उसी प्रकार चैतन्यडोरेमें पड़ी हुई गुत्थीको धीरजसे सुलझाये तो गुत्थी दूर हो सकती है।।३३९।।

*

'इसका करूँ, इसका करूँ'—इस प्रकार तेरा ध्यान बाह्यमें क्यों रुकता है? इतना ध्यान तू अपनेमें लगा दे।।३४०।।

*

निज चेतनपदार्थके आश्रयसे अनंत अद्भुत

आत्मिक विभूति प्रगट होती है। अगाध शक्तिमेंसे क्या नहीं आता? ३४१।।

*

अंतरमें तू अपने आत्माके साथ प्रयोजन रख और बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुके साथ; बस, अन्यके साथ तुझे क्या प्रयोजन है?

जो व्यवहारसे साधनरूप कहे जाते हैं, जिनका आलम्बन साधकको आये बिना नहीं रहता—ऐसे देव-शास्त्र-गुरुके आलम्बनरूप शुभ भाव भी परमार्थसे हेय हैं, तो फिर अन्य पदार्थ या अशुभ भावोंकी तो बात ही क्या? उनसे तुझे क्या प्रयोजन है?

आत्माकी मुख्यतापूर्वक देव-शास्त्र-गुरुका आलम्बन साधकको आता है। मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने भी कहा है कि 'हे जिनेन्द्र! मैं किसी भी स्थान पर होऊँ, (परन्तु) पुनः पुनः आपके पादपंकजकी भक्ति हो'!—ऐसे भाव साधकदशामें आते हैं, और साथ ही साथ आत्माकी मुख्यता तो सतत बनी ही रहती है।।३४२।।

*

अनंत जीव पुरुषार्थ करके, स्वभावरूप परिणमित होकर, विभावको टालकर, सिद्ध हुए हैं; इसलिये यदि तुझे सिद्धमण्डलीमें सम्मिलित होना हो तो तू भी पुरुषार्थ कर ।

किसी भी जीवको पुरुषार्थ किये बिना तो भवान्त होना ही नहीं है । वहाँ कोई जीव तो, जैसे घोड़ा छलाँग मारता है वैसे, उग्र पुरुषार्थ करके त्वरासे वस्तुको पहुँच जाता है, तो कोई जीव धीरे-धीरे पहुँचता है ।

वस्तुको पाना, उसमें स्थिर रहना और आगे बढ़ना—सब पुरुषार्थसे ही होता है । पुरुषार्थ बाहर जाता है उसे अंतरमें लाओ । आत्माके जो सहज स्वभाव हैं वे पुरुषार्थ द्वारा स्वयं प्रगट होंगे ।।३४३।।

*

जब तक सामान्य तत्त्व—ध्रुव तत्त्व—ख्यालमें न आये, तब तक अंतरमें मार्ग कहाँसे सूझे और कहाँसे प्रगट हो ? इसलिये सामान्य तत्त्वको ख्यालमें लेकर उसका आश्रय करना चाहिये । साधकको आश्रय तो प्रारम्भसे पूर्णता तक एक ज्ञायकका ही—

द्रव्यसामान्यका ही—ध्रुव तत्त्वका ही होता है। ज्ञायकका—'ध्रुव'का जोर एक क्षण भी नहीं हटता। दृष्टि ज्ञायकके सिवा किसीको स्वीकार नहीं करती—ध्रुवके सिवा किसी पर ध्यान नहीं देती; अशुद्ध पर्याय पर नहीं, शुद्ध पर्याय पर नहीं, गुणभेद पर नहीं। यद्यपि साथ वर्तता हुआ ज्ञान सबका विवेक करता है, तथापि दृष्टिका विषय तो सदा एक ध्रुव ज्ञायक ही है, वह कभी छूटता नहीं है।

पूज्य गुरुदेवका ऐसा ही उपदेश है, शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं, वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है।।३४४।।

*

मोक्षमार्गका स्वरूप संक्षेपमें कहें तो 'अंतरमें ज्ञायक आत्माको साध'। यह थोड़ेमें बहुत कहा जा चुका। विस्तार किया जाय तो अनंत रहस्य निकले, क्योंकि वस्तुमें अनंत भाव भरे हैं। सर्वार्थसिद्धिके देव तेतीस-तेतीस सागरोपम जितने काल तक धर्मचर्चा, जिनेन्द्रस्तुति इत्यादि करते रहते हैं। उस सबका संक्षेप यह है कि—'शुभाशुभ भावोंसे न्यारा एक ज्ञायकका आश्रय करना, ज्ञायकरूप परिणति करनी'।।३४५।।

*

पूज्य गुरुदेवने तो सारे भारतके जीवोंको जागृत किया है। सैंकड़ों वर्षमें जो स्पष्टता नहीं हुई थी इतनी अधिक मोक्षमार्गकी स्पष्टता की है। छोटे-छोटे बालक भी समझ सकें ऐसी भाषामें मोक्षमार्गको खोला है। अद्‌भुत प्रताप है। अभी तो लाभ लेनेका काल है।।३४६।।

*

मुझे कुछ नहीं चाहिये, एक शान्ति चाहिये, कहीं शान्ति दिखायी नहीं देती। विभावमें तो आकुलता ही है। अशुभसे ऊबकर शुभमें और शुभसे थककर अशुभमें—ऐसे अनंत-अनंत काल बीत गया। अब तो मुझे बस एक शाश्वत शान्ति चाहिये।—इस प्रकार अंतरमें गहराईसे भावना जागे और वस्तुका स्वरूप कैसा है उसकी पहिचान करे, प्रतीति करे, तो सच्ची शान्ति प्राप्त हुए बिना न रहे।।३४७।।

*

रुचिकी उग्रतामें पुरुषार्थ सहज लगता है और रुचिकी मन्दतामें कठिन लगता है। रुचि मन्द हो जाने पर इधर-उधर लग जाय तब कठिन लगता है

और रुचि बढ़ने पर सरल लगता है। स्वयं प्रमाद करे तो दुर्गम होता है और स्वयं उग्र पुरुषार्थ करे तो प्राप्त हो जाता है। सर्वत्र अपना ही कारण है।

सुखका धाम आत्मा है, आश्चर्यकारी निधि आत्मामें है—इस प्रकार बारम्बार आत्माकी महिमा लाकर पुरुषार्थ उठाना और प्रमाद तोड़ना चाहिये।।३४८।।

*

चक्रवर्ती, बलदेव और तीर्थंकर जैसे 'यह राज्य, यह वैभव—कुछ नहीं चाहिये' इस प्रकार सर्वकी उपेक्षा करके एक आत्माकी साधना करनेकी धुनमें अकेले जंगलकी ओर चल पड़े! जिन्हें बाह्यमें किसी प्रकारकी कमी नहीं थी, जो चाहें वह जिन्हें मिलता था, जन्मसे ही, जन्म होनेसे पूर्व भी, इन्द्र जिनकी सेवामें तत्पर रहते थे, लोग जिन्हें भगवान कहकर आदर देते थे—ऐसे उत्कृष्ट पुण्यके धनी सब बाह्य ऋद्धिको छोड़कर, उपसर्ग-परिषहोंकी परवाह किये बिना, आत्माका ध्यान करनेके लिये वनमें चले गये, तो उन्हें आत्मा सबसे महिमावन्त, सबसे विशेष आश्चर्यकारी लगा होगा और बाह्यका सब तुच्छ भासित हुआ होगा

तभी तो चले गये होंगे न ? इसलिये, हे जीव ! तू ऐसे आश्चर्यकारी आत्माकी महिमा लाकर, अपने स्वयंसे उसकी पहिचान करके, उसकी प्राप्तिका पुरुषार्थ कर । तू स्थिरता-अपेक्षासे बाहरका सब न छोड़ सके तो श्रद्धा-अपेक्षासे तो छोड़ ! छोड़नेसे तेरा कुछ नहीं जायगा, उलटा परम पदार्थ—आत्मा—प्राप्त होगा।३४९।

*

जीवोंको ज्ञान और क्रियाके स्वरूपकी खबर नहीं है और 'स्वयं ज्ञान तथा क्रिया दोनों करते हैं' ऐसी भ्रमणाका सेवन करते हैं । बाह्य ज्ञानको, भंगभेदके प्रश्नोत्तरोंको, धारणाज्ञानको वे 'ज्ञान' मानते हैं और परद्रव्यके ग्रहण-त्यागको, शरीरादिकी क्रियाको, अथवा अधिक करें तो शुभ भावको, वे क्रिया कल्पते हैं । 'मुझे इतना आता है, मैं ऐसी कठिन क्रियाएँ करता हूँ' इस प्रकार वे मिथ्या संतोषमें रहते हैं ।

ज्ञायककी स्वानुभूतिके बिना 'ज्ञान' होता नहीं है और ज्ञायकके दृढ़ आलम्बन द्वारा आत्मद्रव्य स्वभावरूपसे परिणमित होकर जो स्वभावभूत क्रिया होती है उसके सिवा 'क्रिया' है नहीं । पौद्गलिक

क्रिया आत्मा कहाँ कर सकता है ? जड़के कार्यरूप तो जड़ परिणमित होता है; आत्मासे जड़के कार्य कभी नहीं होते । 'शरीरादिके कार्य मेरे नहीं हैं और विभाव कार्य भी स्वरूपपरिणति नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ'— ऐसी साधककी परिणति होती है । सच्चे मोक्षार्थीको भी अपने जीवनमें ऐसा घुँट जाना चाहिये । भले प्रथम सविकल्परूप हो, परन्तु ऐसा पक्का निर्णय करना चाहिये । पश्चात् जल्दी अंतरका पुरुषार्थ करे तो जल्दी निर्विकल्प दर्शन हो, देर करे तो देरसे हो । निर्विकल्प स्वानुभूति करके, स्थिरता बढ़ाते-बढ़ाते, जीव मोक्ष प्राप्त करता है ।—इस विधिके सिवा मोक्ष प्राप्त करनेकी अन्य कोई विधि नहीं है ।।३५०।।

*

किसी भी प्रसंगमें एकाकार नहीं हो जाना । मोक्षके सिवा तुझे और क्या प्रयोजन है ? प्रथम भूमिकामें भी 'मात्र मोक्ष-अभिलाष' होती है ।

जो मोक्षका अर्थी हो, संसारसे जो थक गया हो, उसके लिये गुरुदेवकी वाणीका प्रबल स्रोत बह रहा है जिसमेंसे मार्ग सूझता है । वास्तवमें तो

अंतरसे थकान लगे तो, ज्ञानी द्वारा कुछ दिशा सूझनेके बाद अंतर ही अंतरमें प्रयत्न करनेसे आत्मा मिल जाता है।।३५१।।

*

'द्रव्यसे परिपूर्ण महाप्रभु हूँ, भगवान हूँ, कृतकृत्य हूँ' ऐसा मानते होने पर भी 'पर्यायमें तो मैं पामर हूँ' ऐसा महामुनि भी जानते हैं।

गणधरदेव भी कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्र! मैं आपके ज्ञानको नहीं पा सकता। आपके एक समयके ज्ञानमें समस्त लोकालोक तथा अपनी भी अनंत पर्यायें ज्ञात होती हैं। कहाँ आपका अनंत-अनंत द्रव्य-पर्यायोंको जाननेवाला अगाध ज्ञान और कहाँ मेरा अल्प ज्ञान! आप अनुपम आनन्दरूप भी सम्पूर्णतया परिणमित हो गये हैं। कहाँ आपका पूर्ण आनन्द और कहाँ मेरा अल्प आनन्द! इसी प्रकार अनन्त गुणोंकी पूर्ण पर्यायरूपसे आप सम्पूर्णतया परिणमित हो गये हो। आपकी क्या महिमा करें? आपको तो जैसा द्रव्य वैसी ही एक समयकी पर्याय परिणमित हो गई है; मेरी पर्याय तो अनन्तवें भाग है'।

इस प्रकार प्रत्येक साधक, द्रव्य-अपेक्षासे अपनेको भगवान मानता होने पर भी, पर्याय-अपेक्षासे—ज्ञान, आनन्द, चारित्र, वीर्य इत्यादि सर्व पर्यायोंकी अपेक्षासे—अपनी पामरता जानता है।।३५२।।

*

सर्वोत्कृष्ट महिमाका भण्डार चैतन्यदेव अनादि-अनन्त परमपारिणामिकभावमें स्थित है। मुनिराजने (नियमसारके टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने) इस परमपारिणामिक भावकी धुन लगायी है। यह पंचम भाव पवित्र है, महिमावंत है। उसका आश्रय करनेसे शुद्धिके प्रारम्भसे लेकर पूर्णता प्रगट होती है।

जो मलिन हो, अथवा जो अंशतः निर्मल हो, अथवा जो अधूरा हो, अथवा जो शुद्ध एवं पूर्ण होने पर भी सापेक्ष हो, अध्रुव हो और त्रैकालिक-परिपूर्ण-सामर्थ्यवान न हो, उसके आश्रयसे शुद्धता प्रगट नहीं होती; इसलिये औदयिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औपशमिकभाव और क्षायिकभाव अवलम्बनके योग्य नहीं हैं।

जो पूरा निर्मल है, परिपूर्ण है, परम निरपेक्ष है, ध्रुव है और त्रैकालिक-परिपूर्ण-सामर्थ्यमय है—ऐसे अभेद एक परमपारिणामिकभावका ही—पारमार्थिक असली वस्तुका ही—आश्रय करने योग्य है, उसीकी शरण लेने योग्य है । उसीसे सम्यग्दर्शनसे लेकर मोक्ष तककी सर्व दशाएँ प्राप्त होती हैं ।

आत्मामें सहजभावसे विद्यमान ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द इत्यादि अनन्त गुण भी यद्यपि पारिणामिकभावरूप ही हैं तथापि वे चेतनद्रव्यके एक-एक अंशरूप होनेके कारण उनका भेदरूपसे अवलम्बन लेने पर साधकको निर्मलता परिणमित नहीं होती ।

इसलिये परमपारिणामिकभावरूप अनन्तगुण-स्वरूप अभेद एक चेतनद्रव्यका ही–अखण्ड परमात्म-द्रव्यका ही—आश्रय करना, वहीं दृष्टि देना, उसीकी शरण लेना, उसीका ध्यान करना, कि जिससे अनंत निर्मल पर्यायें स्वयं खिल उठें ।

इसलिये द्रव्यदृष्टि करके अखण्ड एक ज्ञायकरूप वस्तुको लक्षमें लेकर उसका अवलम्बन करो । वही, वस्तुके अखण्ड एक परमपारिणामिकभावका आश्रय

है। आत्मा अनंतगुणमय है परन्तु द्रव्यदृष्टि गुणोंके भेदोंका ग्रहण नहीं करती, वह तो एक अखंड त्रैकालिक वस्तुको अभेदरूपसे ग्रहण करती है।

यह पंचम भाव पावन है, पूजनीय है। उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सच्चा मुनिपना आता है, शान्ति और सुख परिणमित होता है, वीतरागता होती है, पंचम गतिकी प्राप्ति होती है।।३५३।।

*

तीर्थंकरभगवन्तों द्वारा प्रकाशित दिगम्बर जैन धर्म ही सत्य है ऐसा गुरुदेवने युक्ति-न्यायसे सर्व प्रकार स्पष्टरूपसे समझाया है। मार्गकी खूब छानबीन की है। द्रव्यकी स्वतंत्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, आत्माका शुद्ध स्वरूप, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति, मोक्षमार्ग इत्यादि सब कुछ उनके परम प्रतापसे इस काल सत्यरूपसे बाहर आया है। गुरुदेवकी श्रुतकी धारा कोई और ही है। उन्होंने हमें तरनेका मार्ग बतलाया है। प्रवचनमें कितना मथ-मथकर निकालते हैं! उनके प्रतापसे सारे भारतमें बहुत

जीव मोक्षमार्गको समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं । पंचम कालमें ऐसा सुयोग प्राप्त हुआ वह अपना परम सद्‌भाग्य है । जीवनमें सब उपकार गुरुदेवका ही है । गुरुदेव गुणोंसे भरपूर हैं, महिमावन्त हैं । उनके चरणकमलकी सेवा हृदयमें बसी रहे।।३५४।।

*

तरनेका उपाय बाहरी चमत्कारोंमें नहीं रहा है । बाह्य चमत्कार साधकका लक्षण भी नहीं हैं । चैतन्यचमत्कारस्वरूप स्वसंवेदन ही साधकका लक्षण है । जो अंतरकी गहराईमें रागके एक कणको भी लाभरूप मानता है, उसे आत्माके दर्शन नहीं होते । निस्पृह ऐसा हो जा कि मुझे अपना अस्तित्व ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये । एक आत्माकी ही लगन लगे और अंतरमेंसे उत्थान हो तो परिणति पलटे बिना न रहे।।३५५।।

*

मुनिराजका निवास चैतन्यदेशमें है । उपयोग तीक्ष्ण होकर गहरे-गहरे चैतन्यकी गुफामें चला जाता है । बाहर आने पर मुरदे जैसी दशा होती है ।

शरीरके प्रति राग छूट गया है। शान्तिका सागर उमड़ा है। चैतन्यकी पर्यायकी विविध तरंगें उछल रही हैं। ज्ञानमें कुशल हैं, दर्शनमें प्रबल हैं, समाधिके वेदक हैं। अंतरमें तृप्त-तृप्त हैं। मुनिराज मानों वीतरागताकी मूर्ति हों इस प्रकार परिणमित हो गये हैं। देहमें वीतराग दशा छा गई है। जिन नहीं परन्तु जिनसरीखे हैं।।३५६।।

*

इस संसारमें जीव अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, अकेला परिभ्रमण करता है, अकेला मुक्त होता है। उसे किसीका साथ नहीं है। मात्र भ्रान्तिसे वह दूसरेकी ओट और आश्रय मानता है। इस प्रकार चौदह ब्रह्माण्डमें अकेले भटकते हुए जीवने इतने मरण किये हैं कि उसके मरणके दुःखमें उसकी माताकी आँखोंसे जो आंसू बहे उनसे समुद्र भर जायें। भवपरिवर्तन करते-करते बड़ी मुश्किलसे तुझे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, ऐसा उत्तम योग मिला है, उसमें आत्माका हित कर लेने जैसा है, बिजलीकी चमकमें मोती पिरो लेने जैसा है। यह मनुष्यभव

और उत्तम संयोग बिजलीकी चमककी भाँति अल्प कालमें विलीन हो जायेंगे। इसलिये जैसे तू अकेला ही दुःखी हो रहा है, वैसे अकेला ही सुखके मार्ग पर जा, अकेला ही मुक्तिको प्राप्त कर ले।।३५७।।

*

गुरुदेव मार्गको अत्यन्त स्पष्ट बतला रहे हैं। आचार्यभगवन्तोंने मुक्तिका मार्ग प्रकाशित किया है और गुरुदेव उसे स्पष्ट कर रहे हैं। जैसे एक-एक माँगमें तेल डालते हैं उसीप्रकार सूक्ष्मतासे स्पष्ट करके सब समझाते हैं। भेदज्ञानका मार्ग हथेलीमें दिखाते हैं। माल मसलकर, तैयार करके दे रहे हैं कि 'ले, खा ले'। अब खाना तो अपनेको है।।३५८।।

*

सहजतत्त्वका कभी नाश नहीं होता, वह मलिन नहीं होता, उसमें न्यूनता नहीं आती। शरीरसे वह भिन्न है, उपसर्ग उसे छूते नहीं हैं, तलवार उसे छेदती नहीं है, अग्नि उसे जलाती नहीं है, राग-द्वेष उसे विकारी नहीं बनाते। वाह तत्त्व! अनंत काल बीत गया हो तो भी तू तो ज्योंका त्यों ही है। तुझे कोई पहिचाने या न

पहिचाने, तू तो सदा ऐसा ही रहनेवाला है। मुनिके एवं सम्यग्दृष्टिके हृदयकमलके सिंहासनमें यह सहज-तत्त्व निरंतर विराजमान है।।३५९।।

*

सम्यग्दृष्टिको पुरुषार्थसे रहित कोई काल नहीं है। पुरुषार्थ करके भेदज्ञान प्रगट किया तबसे पुरुषार्थकी धारा चलती ही है। सम्यग्दृष्टिका यह पुरुषार्थ सहज है, हठपूर्वक नहीं है। दृष्टि प्रगट होनेके बाद वह एक ओर पड़ी हो ऐसा नहीं है। जैसे अग्नि ढँकी पड़ी हो ऐसा नहीं है। अंतरमें भेदज्ञानका— ज्ञातृत्वधाराका प्रगट वेदन है। सहज ज्ञातृत्वधारा चल रही है वह पुरुषार्थसे चल रही है। परम तत्त्वमें अविचलता है। प्रतिकूलताके समूह आये, सारे ब्रह्माण्डमें खलबली मच जाय, तथापि चैतन्यपरिणति न डोले—ऐसी सहज दशा है।।३६०।।

*

तू ज्ञायकस्वरूप है। अन्य सब तुझसे अलग पड़ा है, मात्र तूने उसके साथ एकत्वबुद्धि की है।

'शरीर, वाणी आदि मैं नहीं हूँ, विभावभाव मेरा

स्वरूप नहीं है, जैसा सिद्धभगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है' ऐसी यथार्थ श्रद्धा कर।

शुभ भाव आयँगे अवश्य। परन्तु 'शुभ भावसे क्रमशः मुक्ति होगी, शुभ भाव चले जायँगे तो सब चला जायगा और मैं शून्य हो जाऊँगा'—ऐसी श्रद्धा छोड़।

तू अगाध अनंत स्वाभाविक शक्तियोंसे भरा हुआ एक अखण्ड पदार्थ है। उसकी श्रद्धा कर और आगे बढ़। अनंत तीर्थंकर आदि इसी मार्गसे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं।।३६१।।

*

जिस प्रकार अज्ञानीको 'शरीर ही मैं हूँ, यह शरीर मेरा है' ऐसा सहज ही रहा करता है, घोखना नहीं पड़ता, याद नहीं करना पड़ता, उसीप्रकार ज्ञानीको 'ज्ञायक ही मैं हूँ, अन्य कुछ मेरा नहीं है' ऐसी सहज परिणति वर्तती रहती है, घोखना नहीं पड़ता, याद नहीं करना पड़ता। सहज पुरुषार्थ वर्तता रहता है।।३६२।।

*

मुनिराज आश्चर्यकारी निज ऋद्धिसे भरे हुए

चैतन्यमहलमें निवास करते हैं; चैतन्यलोकमें अनंत प्रकारका दर्शनीय है उसका अवलोकन करते हैं; अतीन्द्रिय-आनन्दरूप स्वादिष्ट अमृतभोजनके थाल भरे हैं वह भोजन करते हैं। समरसमय अचिन्त्य दशा है!३६३।।

*

गुरुदेवने शास्त्रोंके गहन रहस्य सुलझाकर सत्य ढूँढ़ निकाला और हमारे सामने स्पष्टरूपसे रखा है। हमें कहीं सत्य ढूँढ़नेको जाना नहीं पड़ा। गुरुदेवका कोई अद्‌भुत प्रताप है। 'आत्मा' शब्द बोलना सीखे हों तो वह भी गुरुदेवके प्रतापसे। 'चैतन्य हूँ', 'ज्ञायक हूँ'—इत्यादि सब गुरुदेवके प्रतापसे ही जाना है। भेदज्ञानकी बात सुननेको मिलना दुर्लभ थी, उसके बदले उनकी सातिशय वाणी द्वारा उसके हमेशा झरने बह रहे हैं। गुरुदेव मानों हाथ पकड़कर सिखा रहे हैं। स्वयं पुरुषार्थ करके सीख लेने जैसा है। अवसर चूकना योग्य नहीं है।।३६४।।

*

काल अनादि है, जीव अनादि है, जीवने दो प्राप्त

नहीं किये—जिनराजस्वामी और सम्यक्त्व। जिनराजस्वामी मिले परन्तु उन्हें पहिचाना नहीं, जिससे मिलना वह न मिलनेके बराबर है। अनादि कालसे जीव अंतरमें जाता नहीं है और नवीनता प्राप्त नहीं करता; एकके एक विषयका—शुभाशुभ भावका—पिष्टपेषण करता ही रहता है, थकता नहीं है। अशुभमेंसे शुभमें और फिर शुभमेंसे अशुभमें जाता है। यदि शुभ भावसे मुक्ति मिलती होती, तब तो कबकी मिल गई होती! अब, यदि पूर्वमें अनन्त बार किये हुए शुभ भावका विश्वास छोड़कर, जीव अपूर्व नवीन भाव करे—जिनवरस्वामी द्वारा उपदिष्ट शुद्ध सम्यक् परिणति करे, तो वह अवश्य शाश्वत सुखको प्राप्त हो।।३६५।।

*

जिसने आत्माको पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको आत्मा ही सदा समीप वर्तता है, प्रत्येक पर्यायमें शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है। विविध शुभ भाव आयें तब कहीं शुद्धात्मा विस्मृत नहीं हो जाता और वे भाव मुख्यता नहीं पाते।

मुनिराजको पंचाचार, व्रत, नियम, जिनभक्ति

इत्यादि सर्व शुभ भावोंके समय भेदज्ञानकी धारा, स्वरूपकी शुद्ध चारित्रदशा निरंतर चलती ही रहती है। शुभ भाव नीचे ही रहते हैं; आत्मा ऊँचाका ऊँचा ही—ऊर्ध्व ही—रहता है। सब कुछ पीछे रह जाता है, आगे एक शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है।।३६६।।

*

जिनेन्द्रभगवानकी वाणीमें अतिशयता है, उसमें अनंत रहस्य होते हैं, उस वाणी द्वारा बहुत जीव मार्ग प्राप्त करते हैं। ऐसा होने पर भी सम्पूर्ण चैतन्यतत्त्व उस वाणीमें भी नहीं आता। चैतन्यतत्त्व अद्‌भुत, अनुपम एवं अवर्णनीय है। वह स्वानुभवमें ही यथार्थ पहिचाना जाता है।।३६७।।

*

पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपना, उत्तम कुल और सत्य धर्मका श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। ऐसे सातिशय ज्ञानधारी गुरुदेव और उनकी पुरुषार्थप्रेरक वाणीके श्रवणका योग अनंत कालमें महापुण्योदयसे प्राप्त होता है। इसलिये प्रमाद छोड़कर पुरुषार्थ करो। सब सुयोग प्राप्त हो गया है, उसका लाभ ले लो।

सावधान होकर शुद्धात्माको पहिचानकर भवभ्रमणका अन्त लाओ।।३६८।।

*

चैतन्यतत्त्वको पुद्‌गलात्मक शरीर नहीं है, नहीं है। चैतन्यतत्त्वको भवका परिचय नहीं है, नहीं है। चैतन्यतत्त्वको शुभाशुभ परिणति नहीं है, नहीं है। उसमें शरीरका, भवका, शुभाशुभ भावका संन्यास है।

जीवने अनंत भवोंमें परिभ्रमण किया, गुण हीनरूप या विपरीतरूप परिणमित हुए, तथापि मूल तत्त्व ज्योंका त्यों ही है, गुण ज्योंके त्यों ही हैं। ज्ञानगुण हीनरूप परिणमित हुआ उससे कहीं उसके सामर्थ्यमें न्यूनता नहीं आयी है। आनन्दका अनुभव नहीं है इसलिये आनन्दगुण कहीं चला नहीं गया है, नष्ट नहीं हो गया है, घिस नहीं गया है। शक्तिरूपसे सब ज्योंका त्यों रहा है। अनादि कालसे जीव बाहर भटकता है, अति अल्प जानता है, आकुलतामें रुक गया है, तथापि चैतन्यद्रव्य और उसके ज्ञान-आनन्दादि गुण ज्योंके त्यों स्वयमेव सुरक्षित रहे हैं, उनकी सुरक्षा नहीं करनी पड़ती।

—ऐसे परमार्थस्वरूपकी सम्यग्दृष्टि जीवको अनुभवयुक्त प्रतीति होती है।।३६९।।

*

जिसे आत्माका करना हो उसे आत्माका ध्येय ही सन्मुख रखने योग्य है। 'कार्यों'की गिनती करनेकी अपेक्षा एक आत्माका ध्येय ही मुख्य रखना वह उत्तम है। प्रवृत्तिरूप 'कार्य' तो भूमिकाके योग्य होते हैं।

आत्माको मुख्य रखकर जो क्रिया हो उसे ज्ञानी देखते रहते हैं। उनके सर्व कार्योंमें 'आत्मा समीप जिसे रहे' ऐसा होता है। ध्येयको वे भूलते नहीं हैं।।३७०।।

*

जैसे स्वप्नके लड्डुओंसे भूख नहीं मिटती, जैसे मरीचिकाके जलसे प्यास नहीं बुझती, वैसे ही पर पदार्थोंसे सुखी नहीं हुआ जाता।

'इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।'

—यही सुखी होनेका उपाय है। विश्वास करो।।३७१।।

*

जैसे पातालकुआँ खोदने पर, पत्थरकी आखिरी पर्त टूटकर उसमें छेद हो जाने पर पानीकी जो ऊँची पिचकारी उड़ती है, उसे देखनेसे पातालके पानीका अंदरका भारी जोर ख्यालमें आता है, उसी प्रकार सूक्ष्म उपयोग द्वारा गहराईमें चैतन्यतत्त्वके तल तक पहुँच जाने पर, सम्यग्दर्शन प्रगट होनेसे, जो आंशिक शुद्ध पर्याय फूटती है, उस पर्यायका वेदन करने पर चैतन्यतत्त्वका अंदरका अनंत ध्रुव सामर्थ्य अनुभवमें—स्पष्ट ख्यालमें आता है।।३७२।।

*

सब तालोंकी कुंजी एक—'ज्ञायकका अभ्यास करना'। इससे सब ताले खुल जायँगे। जिसे संसारकारागृहसे छूटना हो, मुक्तिपुरीमें जाना हो, उसे मोह-राग-द्वेषरूप ताले खोलनेके लिये ज्ञायकका अभ्यास करनेरूप एक ही कुंजी लगानी चाहिये।।३७३।।

*

शुभ रागकी रुचि वह भी भवकी रुचि है, मोक्षकी रुचि नहीं है। जो मंदकषायमें संतुष्ट होता है, वह अकषायस्वभावी ज्ञायकको जानता नहीं एवं पाता नहीं। गुरुदेव पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ज्ञायकका आश्रय करके शुद्ध परिणति प्रगट कर; वही एक पद है, शेष सब अपद है।।३७४।।

*

इस चैतन्यतत्त्वको पहिचानना चाहिये। चैतन्यको पहिचाननेका अभ्यास करना, भेदज्ञानका अभ्यास करना—वही कर्तव्य है। वह अभ्यास करते-करते आत्माकी रागादिसे भिन्नता भासित हो तो आत्माका स्वरूप प्राप्त हो जाय। आत्मा चैतन्यतत्त्व है, ज्ञायकस्वरूप है—उसे पहिचानना चाहिये। जीवको ऐसा भ्रम है कि परद्रव्यका मैं कर सकता हूँ। परन्तु स्वयं परपदार्थमें कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। स्वयं ज्ञाता है, ज्ञायक है। परपदार्थमें उसका ज्ञान जाता नहीं है और परमेंसे कुछ आता नहीं है। यह समझनेके लिये देव-शास्त्र-गुरु आदि बाह्य निमित्त होते हैं, परन्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि

जो प्रगट होता है, वह सब अपनेमेंसे ही प्रगट होता है। उस मूलतत्त्वको पहिचानना वही कर्तव्य है। दूसरा बाहरका तो अनंत कालमें बहुत किया है। शुभभावकी सब क्रियाएँ कीं, शुभभावमें धर्म माना, परन्तु धर्म तो आत्माके शुद्धभावमें ही है। शुभ तो विभाव है, आकुलतारूप है, दुःखरूप है, उसमें कहीं शान्ति नहीं है। यद्यपि शुभभाव आये बिना नहीं रहते, तथापि वहाँ शान्ति तो नहीं है। शान्ति हो, सुख हो—आनन्द हो ऐसा तत्त्व तो चैतन्य ही है। निवृत्तिमय चैतन्यपरिणतिमें ही सुख है, बाह्यमें कहीं सुख है ही नहीं। इसलिये चैतन्यतत्त्वको पहिचानकर उसमें स्थिर होनेका प्रयास करना वही यथार्थ श्रेयरूप है। वह एक ही मनुष्य जीवनमें करनेयोग्य—हितरूप—कल्याणरूप है।।३७५।।

*

पूर्ण गुणोंसे अभेद ऐसे पूर्ण आत्मद्रव्य पर दृष्टि करनेसे, उसीके आलम्बनसे, पूर्णता प्रगट होती है। इस अखण्ड द्रव्यका आलम्बन वही अखण्ड एक परमपारिणामिकभावका आलम्बन है। ज्ञानीको उस

आलंबनसे प्रगट होनेवाली औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावरूप पर्यायोंका—व्यक्त होनेवाली विभूतियोंका—वेदन होता है परन्तु उनका आलम्बन नहीं होता—उन पर जोर नहीं होता। जोर तो सदा अखण्ड शुद्ध द्रव्य पर ही होता है। क्षायिकभावका भी आश्रय या आलम्बन नहीं लिया जाता क्योंकि वह तो पर्याय है, विशेषभाव है। सामान्यके आश्रयसे ही शुद्ध विशेष प्रगट होता है, ध्रुवके आलम्बनसे ही निर्मल उत्पाद होता है। इसलिये सब छोड़कर, एक शुद्धात्मद्रव्यके प्रति—अखण्ड परमपारिणामिकभावके प्रति—दृष्टि कर, उसीके ऊपर निरन्तर जोर रख, उसीकी ओर उपयोग ढले ऐसा कर।।३७६।।

*

स्वभावमेंसे विशेष आनन्द प्रगट करनेके लिये मुनिराज जंगलमें बसे हैं। उस हेतु उनको निरन्तर परमपारिणामिकभावमें लीनता वर्तती है,—दिन-रात रोमरोममें एक आत्मा ही रम रहा है। शरीर है किन्तु शरीरकी कोई चिन्ता नहीं है, देहातीत जैसी दशा है। उत्सर्ग एवं अपवादकी मैत्रीपूर्वक रहनेवाले

हैं। आत्माका पोषण करके निज स्वभावभावोंको पुष्ट करते हुए विभावभावोंका शोषण करते हैं। जिस प्रकार माताका पल्ला पकड़कर चलता हुआ बालक कुछ अड़चन दिखने पर अधिक जोरसे पल्ला पकड़ लेता है, उसी प्रकार मुनि परीषह-उपसर्ग आने पर प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मद्रव्यको पकड़ लेते हैं। 'ऐसी पवित्र मुनिदशा कब प्राप्त करेंगे!' ऐसा मनोरथ सम्यग्दृष्टिको वर्तता है।।३७७।।

*

जिसे स्वभावकी महिमा जागी है ऐसे सच्चे आत्मार्थीको विषय-कषायोंकी महिमा टूटकर उनकी तुच्छता लगती है। उसे चैतन्यस्वभावकी समझमें निमित्तभूत देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा आती है। कोई भी कार्य करते हुए उसे निरंतर शुद्ध स्वभाव प्राप्त करनेका खटका लगा ही रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्थित ज्ञानीको शुभाशुभ भावसे भिन्न ज्ञायकका अवलम्बन करनेवाली ज्ञातृत्वधारा निरंतर वर्तती रहती है। परन्तु पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण अस्थिरतारूप विभावपरिणति बनी हुई है

इसलिये उनको गृहस्थाश्रम सम्बन्धी शुभाशुभ परिणाम होते हैं। स्वरूपमें स्थिर नहीं रहा जाता इसलिये वे विविध शुभभावोंमें युक्त होते हैं :—'मुझे देव-गुरुकी सदा समीपता हो, गुरुके चरणकमलकी सेवा हो' इत्यादि प्रकारसे जिनेन्द्रभक्ति-स्तवन-पूजन एवं गुरुसेवाके भाव होते हैं तथा शास्त्रस्वाध्यायके, ध्यानके, दानके, भूमिकानुसार अणुव्रत एवं तपादिके शुभभाव उनके हठ बिना आते हैं। इन सब भावोंके बीच ज्ञातृत्व-परिणतिकी धारा तो सतत चलती ही रहती है।

निजस्वरूपधाममें रमनेवाले मुनिराजको भी पूर्ण वीतरागदशाका अभाव होनेसे विविध शुभभाव होते हैं :—उनके महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, पंचाचार, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि सम्बन्धी शुभभाव आते हैं तथा जिनेन्द्रभक्ति-श्रुतभक्ति-गुरुभक्तिके उल्लासमय भाव भी आते हैं। 'हे जिनेन्द्र! आपके दर्शन होनेसे, आपके चरणकमलकी प्राप्ति होनेसे, मुझे क्या नहीं प्राप्त हुआ? अर्थात् आप मिलनेसे मुझे सब कुछ मिल गया।' ऐसे अनेक प्रकारसे श्री पद्मनन्दी आदि मुनिवरोंने जिनेन्द्रभक्तिके स्रोत बहाये

हैं ।—ऐसे ऐसे अनेक प्रकारके शुभभाव मुनिराजको भी हठ बिना आते हैं । साथ ही साथ ज्ञायकके उग्र आलम्बनसे मुनियोग्य उग्र ज्ञातृत्वधारा भी सतत चलती ही रहती है ।

साधकको—मुनिको तथा सम्यग्दृष्टि श्रावकको—जो शुभभाव आते हैं वे ज्ञातृत्वपरिणतिसे विरुद्ध-स्वभाववाले होनेके कारण उनका आकुलतारूपसे—दुःखरूपसे वेदन होता है, हेयरूप ज्ञात होते हैं, तथापि उस भूमिकामें आये बिना नहीं रहते ।

साधककी दशा एकसाथ त्रिपटी (–तीन विशेषताओंवाली) है :—एक तो, उसे ज्ञायकका आश्रय अर्थात् शुद्धात्मद्रव्यके प्रति जोर निरंतर वर्तता है जिसमें अशुद्ध तथा शुद्ध पर्यायांशकी भी उपेक्षा होती है; दूसरा, शुद्ध पर्यायांशका सुखरूपसे वेदन होता है; और तीसरा, अशुद्ध पर्यायांश—जिसमें व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभावोंका समावेश है उसका—दुःखरूपसे, उपाधिरूपसे वेदन होता है ।

साधकको शुभभाव उपाधिरूप लगते हैं—इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि वे भाव हठपूर्वक होते हैं ।

यों तो साधकके वे भाव हठरहित सहजदशाके हैं, अज्ञानीकी भाँति 'ये भाव नहीं करूँगा तो परभवमें दुःख सहन करना पड़ेंगे' ऐसे भयसे जबरन् कष्टपूर्वक नहीं किये जाते; तथापि वे सुखरूप भी ज्ञात नहीं होते। शुभभावोंके साथ-साथ वर्तती, ज्ञायकका अवलम्बन लेनेवाली जो यथोचित निर्मल परिणति वही साधकको सुखरूप ज्ञात होती है।

जिस प्रकार हाथीके बाहरके दाँत—दिखानेके दाँत अलग होते हैं और भीतरके दाँत—चबानेके दाँत अलग होते हैं, उसी प्रकार साधकको बाह्यमें उत्साहके कार्य—शुभ परिणाम दिखायी दें वे अलग होते हैं और अंतरमें आत्मशान्तिका—आत्मतृप्तिका स्वाभाविक परिणमन अलग होता है। बाह्य क्रियाके आधारसे साधकका अंतर नहीं पहिचाना जाता।।३७८।।

*

जगतमें सर्वोत्कृष्ट वस्तु तेरा आत्मा ही है। उसमें चैतन्यरस और आनन्द भरे हैं। वह गुण-मणियोंका भण्डार है। ऐसे दिव्यस्वरूप आत्माकी दिव्यताको तू नहीं पहिचानता और परवस्तुको

मूल्यवान मानकर उसे प्राप्त करनेका परिश्रम कर रहा है! परवस्तु तीन कालमें कभी किसीकी नहीं हुई है, तू व्यर्थ भ्रमणासे उसे अपनी बनानेका प्रयत्न करके अपना अहित कर रहा है! ३७९।।

*

जिस प्रकार सुवर्णको जंग नहीं लगती, अग्निको दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभावमें आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नोंकी चमक प्रगट होगी।।३८०।।

*

जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, वादविवाद करना जाने, प्रमाण-नय-निक्षेपादिसे वस्तुकी तर्कणा करे, धारणारूप ज्ञानको विचारोंमें विशेष-विशेष फेरे, किन्तु यदि ज्ञानस्वरूप आत्माके अस्तित्वको न पकड़े और तद्रूप परिणमित न हो, तो वह ज्ञेयनिमग्न रहता है, जो-जो बाहरका जाने उसमें तल्लीन हो जाता है, मानों ज्ञान बाहरसे आता हो ऐसा भाव वेदता रहता है। सब पढ़ गया, अनेक

युक्ति-न्याय जाने, अनेक विचार किये, परन्तु जाननेवालेको नहीं जाना, ज्ञानकी असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई, तो वह सब जाननेका फल क्या? शास्त्राभ्यासादिका प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्माको जानना है।।३८१।।

*

आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है; वह नित्य रहकर पलटता है। उसका नित्यस्थायी स्वरूप रीता नहीं, पूर्ण भरा हुआ है। उसमें अनंत गुणरत्नोंके कमरे भरे हैं। उस अद्भुत ऋद्धियुक्त नित्य स्वरूप पर दृष्टि दे तो तुझे संतोष होगा कि 'मैं तो सदा कृतकृत्य हूँ'। उसमें स्थिर होनेसे तू पर्यायमें कृतकृत्य हो जायगा।।३८२।।

*

ज्ञायकस्वभाव आत्माका निर्णय करके, मति-श्रुतज्ञानका उपयोग जो बाह्यमें जाता है उसे अंतरमें समेट लेना, बाहर जाते हुए उपयोगको ज्ञायकके अवलम्बन द्वारा बारम्बार अंतरमें स्थिर करते रहना, वही शिवपुरी पहुँचनेका राजमार्ग है। ज्ञायक

आत्माकी अनुभूति वही शिवपुरीकी सड़क है, वही मोक्षका मार्ग है। दूसरे सब उस मार्गका वर्णन करनेके भिन्नभिन्न प्रकार हैं। जितने वर्णनके प्रकार हैं, उतने मार्ग नहीं हैं; मार्ग तो एक ही है।।३८३।।

*

तेरे आत्मामें निधान ठसाठस भरे हैं। अनंत-गुणनिधानको रहनेके लिये अनंत क्षेत्रकी आवश्यकता नहीं है, असंख्यात प्रदेशोंके क्षेत्रमें ही अनंत गुण ठसाठस भरे हैं, तुझमें ऐसे निधान हैं, तो फिर तू बाहर क्यों जाता है? तुझमें है उसे देख न! तुझमें क्या कमी है? तुझमें पूर्ण सुख है, पूर्ण ज्ञान है, सब कुछ है। सुख और ज्ञान तो क्या परन्तु कोई भी वस्तु बाहर लेने जाना पड़े ऐसा नहीं है। एक बार तू अंतरमें प्रवेश कर, सब अन्तरमें है। अन्तरमें गहरे उतरने पर, सम्यग्दर्शन होने पर, तेरे निधान तुझे दिखायी देंगे और उन सर्व निधानके प्रगट अंशको वेदकर तू तृप्त हो जायगा। पश्चात् पुरुषार्थ करते ही रहना जिससे पूर्ण निधानका भोक्ता होकर तू सदाकाल परम तृप्त-तृप्त रहेगा।।३८४।।

*

जीवने अनन्त कालमें अनन्त बार सब कुछ किया परन्तु आत्माको नहीं पहिचाना। देव-गुरु क्या कहते हैं वह बराबर जिज्ञासासे सुनकर, विचार करके, यदि आत्माकी ठोस भूमि जो आत्म-अस्तित्व उसे ख्यालमें लेकर निजस्वरूपमें लीनता की जाय तो आत्मा पहिचाननेमें आये—आत्माकी प्राप्ति हो। इसके सिवा बाहरसे जितने मिथ्या प्रयत्न किये जायँ वे सब भूसा कूटनेके बराबर हैं।।३८५।।

*

बाह्य क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलातीं, ज्ञान मार्ग बतलाता है। मोक्षके मार्गका प्रारम्भ सच्ची समझसे होता है, क्रियासे नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष गुरुका उपदेश और परमागमका प्रयोजनभूत ज्ञान मार्गप्राप्तिके प्रबल निमित्त हैं। चैतन्यका स्पर्श करके निकलती हुई वाणी मुमुक्षुको हृदयमें उतर जाती है। आत्मस्पर्शी वाणी आती हो और जीव एकदम रुचिपूर्वक सुने तो सम्यक्त्वके निकट हो जाता है।।३८६।।

*

आत्मा उत्कृष्ट अजायबघर है। उसमें अनंत गुणरूप

अलौकिक आश्चर्य भरे हैं। देखने जैसा सब कुछ, आश्चर्यकारी ऐसा सब कुछ, तेरे अपने अजायबघरमें ही है, बाह्यमें कुछ नहीं है । तू उसीका अवलोकन कर न! उसके भीतर एक बार झाँकनेसे भी तुझे अपूर्व आनन्द होगा । वहाँसे बाहर निकलना तुझे सुहायगा ही नहीं । बाहरकी सर्व वस्तुओंके प्रति तेरा आश्चर्य टूट जायगा। तू परसे विरक्त हो जायगा।।३८७।।

*

मुनिराजको शुद्धात्मतत्त्वके उग्र अवलम्बन द्वारा आत्मामेंसे संयम प्रगट हुआ है । सारा ब्रह्माण्ड पलट जाये तथापि मुनिराजकी यह दृढ़ संयमपरिणति नहीं पलट सकती। बाहरसे देखने पर तो मुनिराज आत्मसाधनाके हेतु वनमें अकेले बसते हैं, परन्तु अंतरमें देखें तो अनंत गुणसे भरपूर स्वरूपनगरमें उनका निवास है। बाहरसे देखने पर भले ही वे क्षुधावंत हों, तृषावंत हों, उपवासी हों, परन्तु अंतरमें देखा जाये तो वे आत्माके मधुर रसका आस्वादन कर रहे हैं। बाहरसे देखने पर भले ही उनके चारों ओर घनघोर अंधेरा व्याप्त हो, परन्तु अंतरमें देखो

तो मुनिराजके आत्मामें आत्मज्ञानका उजाला फैल रहा है। बाहरसे देखने पर भले ही मुनिराज सूर्यके प्रखर तापमें ध्यान करते हो, परन्तु अंतरमें वे संयमरूपी कल्पवृक्षकी शीतल छायामें विराजमान हैं। उपसर्गका प्रसंग आये तब मुनिराजको ऐसा लगता है कि—'अपनी स्वरूपस्थिरताके प्रयोगका मुझे अवसर मिला है इसलिये उपसर्ग मेरा मित्र है'। अंतरंग मुनिदशा अद्भुत है; वहाँ देहमें भी उपशमरसके ढाले ढल गये होते हैं।।३८८।।

*

जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है उसे दृष्टिके जोरमें अकेला ज्ञायक ही—चैतन्य ही भासता है, शरीरादि कुछ भासित नहीं होता। भेदज्ञानकी परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी आत्मा शरीरसे भिन्न भासता है। दिनको जागृत दशामें तो ज्ञायक निराला रहता है परन्तु रातको नींदमें भी आत्मा निराला ही रहता है। निराला तो है ही परन्तु प्रगट निराला हो जाता है।

उसको भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होता है परन्तु

चाहे जिस संयोगमें उसकी ज्ञान-वैराग्यशक्ति कोई और ही रहती है। मैं तो ज्ञायक सो ज्ञायक ही हूँ, निःशंक ज्ञायक हूँ; विभाव और मैं कभी एक नहीं हुए; ज्ञायक पृथक् ही है, सारा ब्रह्माण्ड पलट जाय तथापि पृथक् ही है।—ऐसा अचल निर्णय होता है। स्वरूप-अनुभवमें अत्यन्त निःशंकता वर्तती है। ज्ञायक ऊपर चढ़कर—ऊर्ध्वरूपसे विराजता है, दूसरा सब नीचे रह जाता है।।३८९।।

*

मुनिराज समाधिपरिणत हैं। वे ज्ञायकका अवलंबन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्रगट करनेको उत्सुक हैं। मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मुनि 'सकलविमल केवलज्ञानदर्शनके लोलुप' हैं। 'स्वरूपमें कब ऐसी स्थिरता होगी जब श्रेणी लगकर वीतरागदशा प्रगट होगी? कब ऐसा अवसर आयेगा जब स्वरूपमें उग्र रमणता होगी और आत्माका परिपूर्ण स्वभावज्ञान—केवलज्ञान प्रगट होगा? कब ऐसा परम ध्यान जमेगा कि आत्मा शाश्वतरूपसे आत्मस्वभावमें ही रह जायगा?' ऐसी

भावना मुनिराजको वर्तती है। आत्माके आश्रयसे एकाग्रता करते-करते वे केवलज्ञानके समीप जा रहे हैं। प्रचुर शान्तिका वेदन होता है। कषाय बहुत मन्द हो गये हैं। कदाचित् कुछ ऋद्धियाँ—चमत्कार भी प्रगट होते जाते हैं; परन्तु उनका उनके प्रति दुर्लक्ष है। 'हमें ये चमत्कार नहीं चाहिये। हमें तो पूर्ण चैतन्यचमत्कार चाहिये। उसके साधनरूप, ऐसा ध्यान—ऐसी निर्विकल्पता—ऐसी समाधि चाहिये कि जिसके परिणामसे असंख्य प्रदेशोंमें प्रत्येक गुण उसकी परिपूर्ण पर्यायसे प्रगट हो, चैतन्यका पूर्ण विलास प्रगट हो।' इस भावनाको मुनिराज आत्मामें अत्यन्त लीनता द्वारा सफल करते हैं।।३९०।।

*

अज्ञानीने अनादि कालसे अनंत ज्ञान-आनन्दादि समृद्धिसे भरे हुए निज चैतन्यमहलको ताले लगा दिये हैं और स्वयं बाहर भटकता रहता है। ज्ञान बाहरसे ढूँढ़ता है, आनन्द बाहरसे ढूँढ़ता है, सब कुछ बाहरसे ढूँढ़ता है। स्वयं भगवान होने पर भी भीख माँगता रहता है।

ज्ञानीने चैतन्यमहलके ताले खोल दिये हैं। अंतरमें ज्ञान-आनन्दादिकी अखूट समृद्धि देखकर, और थोड़ी भोगकर, पहले कभी जिसका अनुभव नहीं हुआ था ऐसी विश्रान्ति उसे हो गई है।।३९१।।

*

एक चैतन्यतत्त्व ही उत्कृष्ट आश्चर्यकारी है। विश्वमें ऐसी कोई विभूति नहीं है कि जो चैतन्यतत्त्वसे ऊँची हो। वह चैतन्य तो तेरे पास ही है, तू ही वह है। तो फिर शरीर पर उपसर्ग आने पर या शरीर छूटनेके प्रसंगमें तू डरता क्यों है? जो कोई बाधा पहुँचाता है वह तो पुद्‌गलको पहुँचाता है, जो छूट जाता है वह तो तेरा था ही नहीं। तेरा तो मंगलकारी, आश्चर्यकारी तत्त्व है। तो फिर तुझे डर किसका? समाधिमें स्थिर होकर एक आत्माका ध्यान कर, भय छोड़ दे।।३९२।।

*

जिसे भवभ्रमणसे सचमुच छूटना हो उसे अपनेको परद्रव्यसे भिन्न पदार्थ निश्चित करके, अपने ध्रुव ज्ञायकस्वभावकी महिमा लाकर, सम्यग्दर्शन प्रगट

करनेका प्रयास करना चाहिये। यदि ध्रुव ज्ञायक-भूमिका आश्रय न हो तो जीव साधनाका बल किसके आश्रयसे प्रगट करेगा? ज्ञायककी ध्रुव भूमिमें दृष्टि जमने पर, उसमें एकाग्रतारूप प्रयत्न करते-करते, निर्मलता प्रगट होती जाती है।

साधक जीवकी दृष्टि निरंतर शुद्धात्मद्रव्य पर होती है, तथापि साधक जानता है सबको;—वह शुद्ध-अशुद्ध पर्यायोंको जानता है और उन्हें जानते हुए उनके स्वभाव-विभावपनेका, उनके सुख-दुःखरूप वेदनका, उनके साधक-बाधकपनेका इत्यादिका विवेक वर्तता है। साधकदशामें साधकके योग्य अनेक परिणाम वर्तते रहते हैं परन्तु 'मैं परिपूर्ण हूँ' ऐसा बल सतत साथ ही साथ रहता है। पुरुषार्थरूप क्रिया अपनी पर्यायमें होती है और साधक उसे जानता है, तथापि दृष्टिके विषयभूत ऐसा जो निष्क्रिय द्रव्य वह अधिकका अधिक रहता है।—ऐसी साधक-परिणतिकी अटपटी रीतिको ज्ञानी बराबर समझते हैं, दूसरोंको समझना कठिन होता है।।३९३।।

*

मुनिराजके हृदयमें एक आत्मा ही विराजता है। उनका सर्व प्रवर्तन आत्मामय ही है। आत्माके आश्रयसे बड़ी निर्भयता प्रगट हुई है। घोर जंगल हो, घनी झाड़ी हो, सिंह-व्याघ्र दहाड़ते हों, मेघाच्छन्न डरावनी रात हो, चारों ओर अंधकार व्याप्त हो, वहाँ गिरिगुफामें मुनिराज बस अकेले चैतन्यमें ही मस्त होकर निवास करते हैं। आत्मामेंसे बाहर आयें तो श्रुतादिके चिंतवनमें चित्त लगता है और फिर अंतरमें चले जाते हैं। स्वरूपके झूलेमें झूलते हैं। मुनिराजको एक आत्मलीनताका ही काम है। अद्भुत दशा है।।३९४।।

*

चेतनका चैतन्यस्वरूप पहिचानकर उसका अनुभव करने पर विभावका रस टूट जाता है। इसलिये चैतन्यस्वरूपकी भूमि पर खड़ा रहकर तू विभावको तोड़ सकेगा। विभावको तोड़नेका यही उपाय है। विभावमें खड़े-खड़े विभाव नहीं टूटेगा; मन्द होगा, और उससे देवादिकी गति मिलेगी, परन्तु चार गतिका अभाव नहीं होगा।।३९५।।

*

तीन लोकको जाननेवाला तेरा तत्त्व है उसकी महिमा तुझे क्यों नहीं आती ? आत्मा स्वयं ही सर्वस्व है, अपनेमें ही सब भरा है । आत्मा सारे विश्वका ज्ञाता-द्रष्टा एवं अनन्त शक्तिका धारक है । उसमें क्या कम है ? सर्व ऋद्धि उसीमें है । तो फिर बाह्य ऋद्धिका क्या काम है ? जिसे बाह्य पदार्थोंमें कौतूहल है उसे अंतरकी रुचि नहीं है । अंतरकी रुचिके बिना अंतरमें नहीं पहुँचा जाता, सुख प्रगट नहीं होता।।३९६।।

*

चैतन्य मेरा देव है; उसीको मैं देखता हूँ । दूसरा कुछ मुझे दिखता ही नहीं है न !—ऐसा द्रव्य पर जोर आये, द्रव्यकी ही अधिकता रहे, तो सब निर्मल होता जाता है । स्वयं अपनेमें गया, एकत्वबुद्धि टूट गई, वहाँ सब रस ढीले हो गये । स्वरूपका रस प्रगट होने पर अन्य रसमें अनन्त फीकापन आ गया । न्यारा, सबसे न्यारा हो जानेसे संसारका रस घटकर अनन्तवाँ भाग रह गया । सारी दशा पलट गई।।३९७।।

*

मैंने अपने परमभावको ग्रहण किया उस परम-

भावके सामने तीन लोकका वैभव तुच्छ है । और तो क्या परन्तु मेरी स्वाभाविक पर्याय—निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह भी, मैं द्रव्यदृष्टिके बलसे कहता हूँ कि, मेरी नहीं है । मेरा द्रव्यस्वभाव अगाध है, अमाप है । निर्मल पर्यायका वेदन भले हो परन्तु द्रव्य-स्वभावके आगे उसकी विशेषता नहीं है ।—ऐसी द्रव्यदृष्टि कब प्रगट होती है कि जब चैतन्यकी महिमा लाकर, सबसे विमुख होकर, जीव अपनी ओर झुके तब ।।३९८।।

*

सम्यग्दृष्टिको भले स्वानुभूति स्वयं पूर्ण नहीं है परन्तु दृष्टिमें परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है । ज्ञानपरिणति द्रव्य तथा पर्यायको जानती है परन्तु पर्याय पर जोर नहीं है । दृष्टिमें अकेला स्वकी ओरका—द्रव्यकी ओरका बल रहता है ।।३९९।।

*

मैं तो शाश्वत पूर्ण चैतन्य जो हूँ सो हूँ । मुझमें जो गुण हैं वे ज्योंके त्यों हैं, जैसेके तैसे ही हैं । मैं एकेन्द्रियके भवमें गया वहाँ मुझमें कुछ कम नहीं

हो गया है और देवके भवमें गया वहाँ मेरा कोई गुण बढ़ नहीं गया है।—ऐसी द्रव्यदृष्टि ही एक उपादेय है। जानना सब, किन्तु दृष्टि रखना एक द्रव्य पर।।४००।।

*

ज्ञानीका परिणमन विभावसे विमुख होकर स्वरूपकी ओर ढल रहा है। ज्ञानी निज स्वरूपमें परिपूर्णरूपसे स्थिर हो जानेको तरसता है। 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है। इस परदेशमें हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। यहाँ हमारा कोई नहीं है। जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्यादि अनंतगुणरूप हमारा परिवार बसता है वह हमारा स्वदेश है। अब हम उस स्वरूपस्वदेशकी ओर जा रहे हैं। हमें त्वरासे अपने मूल वतनमें जाकर आरामसे बसना है जहाँ सब हमारे हैं।'।।४०१।।

*

जो केवलज्ञान प्राप्त कराये ऐसा अन्तिम पराकाष्ठाका ध्यान वह उत्तम प्रतिक्रमण है। इन महा

मुनिराजने ऐसा प्रतिक्रमण किया कि दोष पुनः कभी उत्पन्न ही नहीं हुए; ठेठ श्रेणी लगा दी कि जिसके परिणामसे वीतरागता होकर केवलज्ञानका सारा समुद्र उछल पड़ा! अन्तर्मुखता तो अनेक बार हुई थी, परन्तु यह अन्तर्मुखता तो अन्तिमसे अन्तिम कोटिकी! आत्माके साथ पर्याय ऐसी जुड़ गई कि उपयोग अंदर गया सो गया, फिर कभी बाहर आया ही नहीं। चैतन्यपदार्थको जैसा ज्ञानमें जाना था, वैसा ही उसको पर्यायमें प्रसिद्ध कर लिया।।४०२।।

*

जैसे पूर्णमासीके पूर्ण चन्द्रके योगसे समुद्रमें ज्वार आता है, उसी प्रकार मुनिराजको पूर्ण चैतन्यचन्द्रके एकाग्र अवलोकनसे आत्मसमुद्रमें ज्वार आता है;—वैराग्यका ज्वार आता है, आनन्दका ज्वार आता है, सर्व गुण-पर्यायका यथासम्भव ज्वार आता है। यह ज्वार बाहरसे नहीं, भीतरसे आता है। पूर्ण चैतन्यचन्द्रको स्थिरतापूर्वक निहारने पर अंदरसे चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है—सब कुछ उछलता

है। धन्य मुनिदशा! ४०३।।

*

परसे भिन्न ज्ञायकस्वभावका निर्णय करके, बारम्बार भेदज्ञानका अभ्यास करते-करते मतिश्रुतके विकल्प टूट जाते हैं, उपयोग गहराईमें चला जाता है और भोंयरेमें भगवानके दर्शन प्राप्त हों तदनुसार गहराईमें आत्मभगवान दर्शन देते हैं। इस प्रकार स्वानुभूतिकी कला हाथमें आने पर, किस प्रकार पूर्णता प्राप्त हो वह सब कला हाथमें आ जाती है, केवलज्ञानके साथ केलि प्रारम्भ होती है।।४०४।।

*

अज्ञानी जीव ऐसे भावसे वैराग्य करता है कि— 'यह सब क्षणिक है, सांसारिक उपाधि दुःखरूप है', परन्तु उसे 'मेरा आत्मा ही आनन्दस्वरूप है' ऐसे अनुभवपूर्वक सहज वैराग्य नहीं होनेके कारण सहज शान्ति परिणमित नहीं होती। वह घोर तप करता है, परन्तु कषायके साथ एकत्वबुद्धि नहीं टूटी होनेसे आत्मप्रतपन प्रगट नहीं होता।।४०५।।

*

तू अनादि-अनंत पदार्थ है। 'जानना' तेरा स्वभाव है। शरीरादि जड़ पदार्थ कुछ जानते नहीं है। जाननेवाला कभी नहिं-जाननेवाला नहीं होता; नहिं-जाननेवाला कभी जाननेवाला नहीं होता; सदा सर्वदा भिन्न रहते हैं। जड़के साथ एकत्व मानकर तू दुःखी हो रहा है। वह एकत्वकी मान्यता भी तेरे मूल स्वरूपमें नहीं है। शुभाशुभ भाव भी तेरा असली स्वरूप नहीं है।—यह, ज्ञानी अनुभवी पुरुषोंका निर्णय है। तू इस निर्णयकी दिशामें प्रयत्न कर। मति व्यवस्थित किये बिना चाहे जैसे तर्क ही उठाता रहेगा तो पार नहीं आयगा।।४०६।।

*

यहाँ (श्री प्रवचनसार प्रारम्भ करते हुए) कुन्द-कुन्दाचार्यभगवानको पंच परमेष्ठीके प्रति कैसी भक्ति उल्लसित हुई है! पांचों परमेष्ठीभगवंतोंका स्मरण करके भक्तिभावपूर्वक कैसा नमस्कार किया है! तीनों कालके तीर्थंकरभगवन्तोंको—साथ ही साथ मनुष्य-क्षेत्रमें वर्तते विद्यमान तीर्थंकरभगवन्तोंको अलग स्मरण करके—'सबको एकसाथ तथा प्रत्येक-

प्रत्येकको मैं वंदन करता हूँ' ऐसा कहकर अति, भक्तिभीने चित्तसे आचार्यभगवान नम गये हैं। ऐसे भक्तिके भाव मुनिको—साधकको—आये बिना नहीं रहते। चित्तमें भगवानके प्रति भक्तिभाव उछले तब, मुनि आदि साधकको भगवानका नाम आने पर भी रोमरोम उल्लसित हो जाता है। ऐसे भक्ति आदिके शुभ भाव आयें तब भी मुनिराजको ध्रुव ज्ञायकतत्त्व ही मुख्य रहता है इसलिये शुद्धात्माश्रित उग्र समाधिरूप परिणमन वर्तता ही रहता है और शुभ भाव तो ऊपर-ऊपर ही तरते हैं तथा स्वभावसे विपरीतरूप वेदनमें आते हैं।।४०७।।

*

अहो! सिद्धभगवानकी अनन्त शान्ति! अहो! उनका अपरिमित आनन्द! साधकके अल्प निवृत्त परिणाममें भी अपूर्व शीतलता लगती है तो जो सर्व विभावपरिणामसे सर्वथा निवृत्त हुए हैं ऐसे सिद्धभगवानको प्रगट हुई शान्तिका तो क्या कहना! उनके तो मानों शान्तिका सागर उछल रहा हो ऐसी अमाप शान्ति होती है; मानों आनन्दका समुद्र हिलोरें

ले रहा हो ऐसा अपार आनन्द होता है। तेरे आत्मामें भी ऐसा सुख भरा है परन्तु विभ्रमकी चादर आड़ी आ जानेसे तुझे वह दिखता नहीं है।।४०८।।

*

जिस प्रकार वटवृक्षकी जटा पकड़कर लटकता हुआ मनुष्य मधुबिन्दुकी तीव्र लालसामें पड़कर, विद्याधरकी सहायताकी उपेक्षा करके विमानमें नहीं बैठा, उसी प्रकार अज्ञानी जीव विषयोंके कल्पित सुखकी तीव्र लालसामें पड़कर गुरुके उपदेशकी उपेक्षा करके शुद्धात्मरुचि नहीं करता, अथवा 'इतना काम कर लूँ, इतना काम कर लूँ' इस प्रकार प्रवृत्तिके रसमें लीन रहकर शुद्धात्मप्रतीतिके उद्यमका समय नहीं पाता, इतनेमें तो मृत्युका समय आ पहुँचता है। फिर 'मैंने कुछ किया नहीं, अरेरे! मनुष्यभव व्यर्थ गया' इस प्रकार वह पछताये तथापि किस कामका? मृत्युके समय उसे किसकी शरण है? वह रोगकी, वेदनाकी, मृत्युकी, एकत्वबुद्धिकी और आर्तध्यानकी चपेटमें आकर देह छोड़ता है। मनुष्यभव हारकर चला जाता है।

धर्मी जीव रोगकी, वेदनाकी या मृत्युकी चपेटमें नहीं आता, क्योंकि उसने शुद्धात्माकी शरण प्राप्त की है। विपत्तिके समय वह आत्मामेंसे शान्ति प्राप्त कर लेता है। विकट प्रसंगमें वह निज शुद्धात्माकी शरण विशेष लेता है। मरणादिके समय धर्मी जीव शाश्वत ऐसे निजसुखसरोवरमें विशेष-विशेष डुबकी लगा जाता है—जहाँ रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है, शान्तिकी अखूट निधि है। वह शान्तिपूर्वक देह छोड़ता है, उसका जीवन सफल है।

तू मरणका समय आनेसे पहले चेत जा, सावधान हो, सदा शरणभूत—विपत्तिके समय विशेष शरणभूत होनेवाले—ऐसे शुद्धात्मद्रव्यको अनुभवनेका उद्यम कर।।४०९।।

*

जिसने आत्माके मूल अस्तित्वको नहीं पकड़ा, 'स्वयं शाश्वत तत्त्व है, अनंत सुखसे भरपूर है' ऐसा अनुभव करके शुद्ध परिणतिकी धारा प्रगट नहीं की, उसने भले सांसारिक इन्द्रियसुखोंको नाशवंत और भविष्यमें दुःखदाता जानकर छोड़ दिया हो और

बाह्य मुनिपना ग्रहण किया हो, भले ही वह दुर्धर तप करता हो और उपसर्ग-परिषहमें अडिग रहता हो, तथापि उसे वह सब निर्वाणका कारण नहीं होता, स्वर्गका कारण होता है; क्योंकि उसे शुद्ध परिणमन बिलकुल नहीं वर्तता, मात्र शुभ परिणाम ही—और वह भी उपादेयबुद्धिसे—वर्तता है। वह भले नौ पूर्व पढ़ गया हो तथापि उसने आत्माका मूल द्रव्यसामान्यस्वरूप अनुभवपूर्वक नहीं जाना होनेसे वह सब अज्ञान है।

सच्चे भावमुनिको तो शुद्धात्मद्रव्याश्रित मुनियोग्य उग्र शुद्धपरिणति चलती रहती है, कर्तापना तो सम्यग्दर्शन होने पर ही छूट गया होता है, उग्र ज्ञातृत्वधारा अटूट वर्तती रहती है, परम समाधि परिणमित होती है। वे शीघ्र-शीघ्र निजात्मामें लीन होकर आनन्दका वेदन करते रहते हैं; उनके प्रचुर स्वसंवेदन होता है। वह दशा अद्‌भुत है, जगतसे न्यारी है। पूर्ण वीतरागता न होनेसे उनके व्रत-तप-शास्त्ररचना आदिके शुभ भाव आते हैं अवश्य, परन्तु वे हेयबुद्धिसे आते हैं। ऐसी पवित्र मुनिदशा

मुक्तिका कारण है।।४१०।।

*

अनन्त कालसे जीव भ्रान्तिके कारण परके कार्य करनेका मिथ्या श्रम करता है, परन्तु परपदार्थके कार्य वह बिलकुल नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र-रूपसे परिणमित होता है। जीवके कर्ता-क्रिया-कर्म जीवमें हैं, पुद्‌गलके पुद्‌गलमें हैं। वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादिरूपसे पुद्‌गल परिणमित होता है, जीव उन्हें नहीं बदल सकता। चेतनके भावरूपसे चेतन परिणमित होता है, जड़ पदार्थ उसमें कुछ नहीं कर सकते।

तू ज्ञायकस्वभावी है। पौद्‌गलिक शरीर-वाणी-मनसे तो तू भिन्न ही है, परन्तु शुभाशुभ भाव भी तेरा स्वभाव नहीं है। अज्ञानके कारण तूने परमें तथा विभावमें एकत्वबुद्धि की है, वह एकत्वबुद्धि छोड़कर तू ज्ञाता हो जा। शुद्ध आत्मद्रव्यकी यथार्थ प्रतीति करके—शुद्ध द्रव्यदृष्टि प्रगट करके, तू ज्ञायकपरिणति प्रगट कर कि जिससे मुक्तिका प्रयाण प्रारम्भ होगा।।४११।।

*

मरण तो आना ही है जब सब कुछ छूट जायगा। बाहरकी एक वस्तु छोड़नेमें तुझे दुःख होता है, तो बाहरके समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एकसाथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरणकी वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा। परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धनके ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर छूटें, आसपास खड़े हुए अनेक सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तू भले ही दीनतासे टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माकी प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मामेंसे शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिये अभीसे वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रहा है' ऐसा बारम्बार स्मरणमें लाकर भी तू पुरुषार्थ चला कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भावमें तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। जीवनमें एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।।४१२।।

*

सर्वज्ञभगवान परिपूर्णज्ञानरूपसे परिणमित हो गये हैं। वे अपनेको पूर्णरूपसे—अपने सर्वगुणोंके भूत-वर्तमान-भावी पर्यायोंके अविभाग प्रतिच्छेदों सहित—प्रत्यक्ष जानते हैं। साथ ही साथ वे स्वक्षेत्रमें रहकर, परके समीप गये बिना, परसन्मुख हुए बिना, निराले रहकर लोकालोकके सर्व पदार्थोंको अतीन्द्रियरूपसे प्रत्यक्ष जानते हैं। परको जाननेके लिये वे परसन्मुख नहीं होते। परसन्मुख होनेसे तो ज्ञान दब जाता है—रुक जाता है, विकसित नहीं होता। जो ज्ञान पूर्णरूपसे परिणमित हो गया है वह किसीको जाने बिना नहीं रहता। वह ज्ञान स्वचैतन्यक्षेत्रमें रहते हुए, तीनों कालके तथा लोकालोकके सर्व स्व-पर ज्ञेयों मानों वे ज्ञानमें उत्कीर्ण हो गये हों उस प्रकार, समस्त स्व-परको एक समयमें सहजरूपसे प्रत्यक्ष जानता है; जो बीत गया है उस सबको भी पूरा जानता है, जो आगे होना है उस सबको भी पूरा जानता है। ज्ञानशक्ति अद्‌भुत है।।४१३।।

*

कोई स्वयं चक्रवर्ती राजा होने पर भी, अपने

पास ऋद्धिके भण्डार भरे होने पर भी, बाहर भीख माँगता हो, वैसे तू स्वयं तीन लोकका नाथ होने पर भी, तेरे पास अनंत गुणरूप ऋद्धिके भण्डार भरे होने पर भी, 'पर पदार्थ मुझे कुछ ज्ञान देना, मुझे सुख देना' इस प्रकार भीख माँगता रहता है! 'मुझे धनमेंसे सुख मिल जाय, मुझे शरीरमेंसे सुख मिल जाय, मुझे शुभ कार्योंमेंसे सुख मिल जाय, मुझे शुभ परिणाममेंसे सुख मिल जाय' इस प्रकार तू भीख माँगता रहता है! परन्तु बाहरसे कुछ नहीं मिलता। गहराईसे ज्ञायकपनेका अभ्यास किया जाय तो अंतरसे ही सब कुछ मिलता है। जैसे भोंयरेमें जाकर योग्य कुंजी द्वारा तिजोरीका ताला खोला जाये तो निधान प्राप्त हों और दारिद्र दूर हो जाये, उसी प्रकार गहराईमें जाकर ज्ञायकके अभ्यासरूप कुंजीसे भ्रान्तिरूप ताला खोल दिया जाये तो अनंत गुणरूप निधान प्राप्त हों और भिक्षुकवृत्ति मिट जाये।।४१४।।

*

मुनिराज कहते हैं :—हमारा आत्मा तो अनंत गुणोंसे भरपूर, अनंत अमृतरससे भरपूर, अक्षय घट

है। उस घटमेंसे पतली धारसे अल्प अमृत पिया जाय ऐसे स्वसंवेदनसे हमें सन्तोष नहीं होता। हमें तो प्रतिसमय पूर्ण अमृतका पान हो ऐसी पूर्ण दशा चाहिये। उस पूर्ण दशामें सादि-अनन्त काल पर्यन्त प्रतिसमय पूरा अमृत पिया जाता है और घट भी सदा परिपूर्ण भरा रहता है। चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवान शाश्वत द्रव्य और प्रतिसमय ऐसी ही पूर्ण व्यक्तिवाला परिणमन! ऐसी उत्कृष्ट-निर्मल दशाकी हम भावना भाते हैं। (ऐसी भावनाके समय भी मुनिराजकी दृष्टि तो सदाशुद्ध आत्मद्रव्य पर ही है।)।।४१५।।

*

भवभ्रमण चलता रहे ऐसे भावमें यह भव व्यतीत होने देना योग्य नहीं है। भवके अभावका प्रयत्न करनेके लिये यह भव है। भवभ्रमण कितने दुःखोंसे भरा है उसका गंभीरतासे विचार तो कर! नरकके भयंकर दुःखोंमें एक क्षण निकलना भी असह्य लगता है वहाँ सागरोपम कालकी आयु कैसे कटी होगी? नरकके दुःख सुने जाएँ ऐसे नहीं हैं। पैरमें काँटा लगने जितना दुःख भी तुझसे सहा नहीं जाता, तो फिर जिसके गर्भमें उससे अनन्तानन्तगुने

दुःख पड़े हैं ऐसे मिथ्यात्वको छोड़नेका उद्यम तू क्यों नहीं करता? गफलतमें क्यों रहता है? ऐसा उत्तम योग पुनः कब मिलेगा? तू मिथ्यात्व छोड़नेके लिये जी-जानसे प्रयत्न कर, अर्थात् साता-असातासे भिन्न तथा आकुलतामय शुभाशुभ भावोंसे भी भिन्न ऐसे निराकुल ज्ञायकस्वभावको अनुभवनेका प्रबल पुरुषार्थ कर। यही इस भवमें करने योग्य है।।४१६।।

*

सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् आत्मस्थिरता बढ़ते-बढ़ते, बारम्बार स्वरूपलीनता होती रहे ऐसी दशा हो तब मुनिपना आता है। मुनिको स्वरूपकी ओर ढलती हुई शुद्धि इतनी बढ़ गई होती है कि वे घड़ी-घड़ी आत्मामें प्रविष्ट हो जाते हैं। पूर्ण वीतरागताके अभावके कारण जब बाहर आते हैं तब विकल्प तो उठते हैं परन्तु वे गृहस्थदशाके योग्य नहीं होते, मात्र स्वाध्याय-ध्यान-व्रत-संयम-तप-भक्ति इत्यादिसम्बन्धी मुनियोग्य शुभ विकल्प ही होते हैं और वे भी हठ रहित होते हैं। मुनिराजको बाहरका कुछ नहीं चाहिये। बाह्यमें एक शरीर-

मात्रका सम्बन्ध है, उसके प्रति भी परम उपेक्षा है। बड़ी निःस्पृह दशा है। आत्माकी ही लगन लगी है। चैतन्यनगरमें ही निवास है। 'मैं और मेरे आत्माके अनंत गुण ही मेरे चैतन्यनगरकी बस्ती है। उसीका मुझे काम है। दूसरोंका मुझे क्या काम?, इस प्रकार एक आत्माकी ही धुन है। विश्वकी कथासे उदास हैं। बस, एक आत्मामय ही जीवन हो गया है;—मानों चलते-फिरते सिद्ध! जैसे पिताकी झलक पुत्रमें दिखायी देती है उसी प्रकार जिनभगवानकी झलक मुनिराजमें दिखती है। मुनि छठवें-सातवें गुणस्थानमें रहें उतना काल कहीं (आत्मशुद्धिकी दशामें आगे बढ़े बिना) वहींके वहीं खड़े नहीं रहते, आगे बढ़ते जाते हैं; केवलज्ञान न हो तब तक शुद्धि बढ़ाते ही जाते हैं।—यह, मुनिकी अंतःसाधना है। जगतके जीव मुनिकी अंतरंग साधना नहीं देखते। साधना कहीं बाहरसे देखनेकी वस्तु नहीं है, अंतरकी दशा है। मुनिदशा आश्चर्यकारी है, वंद्य है।।४१७।।

*

सिद्धभगवानको अव्याबाध अनंत सुख प्रगट

हुआ सो हुआ। उसका कभी नाश नहीं होता। जिनके दुःखके बीज ही जल गये हैं वे कभी सुख छोड़कर दुःखमें कहाँसे आयेंगे? एक बार जो क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भिन्नरूप परिणमित होते हैं वे भी कभी अभिन्नरूप—एकरूप नहीं होते, तब फिर जो सिद्धरूपसे परिणमित हुए वे असिद्धरूपसे कहाँसे परिणमित होंगे? सिद्धत्व-परिणमन प्रवाहरूपसे सादि-अनन्त है। सिद्धभगवान सादि-अनन्त काल प्रतिसमय पूर्णरूपसे परिणमित होते रहते हैं। यद्यपि सिद्धभगवानके ज्ञान-आनन्दादि सर्व गुणरत्नोंमें चमक उठती ही रहती है—उत्पादव्यय होते ही रहते हैं, तथापि वे सर्व गुण परिणमनमें भी सदा ज्योंके त्यों ही परिपूर्ण रहते हैं। स्वभाव अद्भुत है।।४१८।।

*

प्रश्न :—हम अनन्त कालके दुखियारे; हमारा यह दुःख कैसे मिटेगा?

उत्तर :—'मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, विभावसे भिन्न मैं ज्ञायक हूँ' इस मार्ग पर जानेसे दुःख दूर

होगा और सुखकी घड़ी आयगी। ज्ञायककी प्रतीति हो और विभावकी रुचि छूटे—ऐसे प्रयत्नके पीछे विकल्प टूटेगा और सुखकी घड़ी आयगी। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा भले ही पहले ऊपरी-भावसे कर, फिर गहराईसे कर, परन्तु चाहे जैसे करके उस मार्ग पर जा। शुभाशुभ भावसे भिन्न ज्ञायकका ज्ञायकरूपसे अभ्यास करके ज्ञायककी प्रतीति दृढ़ करना, ज्ञायकको गहराईसे प्राप्त करना, वही सादि-अनंत सुख प्राप्त करनेका उपाय है। आत्मा सुखका धाम है, उसमेंसे सुख प्राप्त होगा।।४१९।।

*

प्रश्न :—जिज्ञासुको चौवीसों घंटे आत्माके विचार चलते हैं?

उत्तर :—विचार चौवीसों घंटे नहीं चलते। परन्तु आत्माका खटका, लगन, रुचि, उत्साह बना रहता है। 'मुझे आत्माका करना है, मुझे आत्माको पहिचानना है' इस प्रकार लक्ष बारम्बार आत्माकी ओर मुड़ता रहता है।।४२०।।

*

प्रश्न :—मुमुक्षुको शास्त्रका अभ्यास विशेष रखना या चिंतनमें विशेष समय लगाना ?

उत्तर :—सामान्य अपेक्षासे तो, शास्त्राभ्यास चिंतन सहित होता है, चिंतन शास्त्राभ्यासपूर्वक होता है । विशेष अपेक्षासे, अपनी परिणति जिसमें टिकती हो और अपनेको जिससे विशेष लाभ होता दिखायी दे वह करना चाहिये । यदि शास्त्राभ्यास करनेसे अपनेको निर्णय दृढ़ होता हो, विशेष लाभ होता हो, तो ऐसा प्रयोजनभूत शास्त्राभ्यास विशेष करना चाहिये और यदि चिंतनसे निर्णयमें दृढ़ता होती हो, विशेष लाभ होता हो, तो ऐसा प्रयोजनभूत चिंतन विशेष करना चाहिये । अपनी परिणतिको लाभ हो वह करना चाहिये । अपनी चैतन्यपरिणति आत्माको पहिचाने यही ध्येय होना चाहिये । उस ध्येयकी सिद्धिके हेतु प्रत्येक मुमुक्षुको ऐसा ही करना चाहिये ऐसा नियम नहीं हो सकता ।।४२१।।

*

प्रश्न :—विकल्प हमारा पीछा नहीं छोड़ते !

उत्तर :—विकल्प तुझे लगे नहीं हैं, तू

विकल्पोंको लगा है। तू हट जा न! विकल्पोंमें रंचमात्र सुख और शान्ति नहीं हैं, अंतरमें पूर्ण सुख एवं समाधान है।

पहले आत्मस्वरूपकी प्रतीति होती है, भेदज्ञान होता है, पश्चात् विकल्प टूटते हैं और निर्विकल्प स्वानुभूति होती है।।४२२।।

*

प्रश्न :—सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व कहा है, तो क्या निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होने पर आत्माके सर्व गुणोंका आंशिक शुद्ध परिणमन वेदनमें आता है?

उत्तर :—निर्विकल्प स्वानुभूतिकी दशामें आनन्द-गुणकी आश्चर्यकारी पर्याय प्रगट होने पर आत्माके सर्व गुणोंका (यथासम्भव) आंशिक शुद्ध परिणमन प्रगट होता है और सर्व गुणोंकी पर्यायोंका वेदन होता है।

आत्मा अखण्ड है, सर्व गुण आत्माके ही हैं, इसलिये एक गुणकी पर्यायका वेदन हो उसके साथ-साथ सर्व गुणोंकी पर्यायें अवश्य वेदनमें आती हैं।

भले ही सर्व गुणोंके नाम न आते हों, और सर्व गुणोंकी संज्ञा भाषामें होती भी नहीं, तथापि उनका संवेदन तो होता ही है।

स्वानुभूतिके कालमें अनंतगुणसागर आत्मा अपने आनन्दादि गुणोंकी चमत्कारिक स्वाभाविक पर्यायोंमें रमण करता हुआ प्रगट होता है। वह निर्विकल्प दशा अद्‌भुत है, वचनातीत है। वह दशा प्रगट होने पर सारा जीवन पलट जाता है।।४२३।।

*

प्रश्न :—आत्मद्रव्यका बहु भाग शुद्ध रहकर मात्र थोड़े भागमें ही अशुद्धता आयी है न?

उत्तर :—निश्चयसे अशुद्धता द्रव्यके थोड़े भागमें भी नहीं आयी है, वह तो ऊपर-ऊपर ही तैरती है। वास्तवमें यदि द्रव्यके थोड़े भी भागमें अशुद्धता आये अर्थात् द्रव्यका थोड़ा भी भाग अशुद्ध हो जाय, तो अशुद्धता कभी निकलेगी ही नहीं, सदाकाल रहेगी! बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव द्रव्यके ऊपर तैरते हैं परन्तु उसमें सचमुच स्थान नहीं पाते। शक्ति तो शुद्ध ही

है, व्यक्तिमें अशुद्धता आयी है।।४२४।।

*

प्रश्न :—जिज्ञासु जीव तत्त्वको यथार्थ धारण करने पर भी किस प्रकार अटक जाता है?

उत्तर :—तत्त्वको धारण करने पर भी जगतके किन्हीं पदार्थोंमें गहरे-गहरे सुखकी कल्पना रह जाये अथवा शुभ परिणाममें आश्रयबुद्धि रह जाये—इत्यादि प्रकारसे वह जीव अटक जाता है। परन्तु जो खास जिज्ञासु—आत्मार्थी हो और जिसे खास प्रकारकी पात्रता प्रगट हुई हो वह तो कहीं अटकता ही नहीं, और उस जीवको ज्ञानकी कोई भूल रह गई हो तो वह भी स्वभावकी लगनके बलसे निकल जाती है; अंतरकी खास प्रकारकी पात्रतावाला जीव कहीं अटके बिना अपने आत्माको प्राप्त कर लेता है।।४२५।।

*

प्रश्न :—मुमुक्षुको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर :—अनादिकालसे आत्माने अपना स्वरूप

नहीं छोड़ा है, परन्तु भ्रान्तिके कारण 'छोड़ दिया है'—ऐसा उसे भासित हुआ है। अनादिकालसे द्रव्य तो शुद्धतासे भरा है, ज्ञायकस्वरूप ही है, आनन्दस्वरूप ही है। उसमें अनंत चमत्कारिक शक्ति भरी है।—ऐसे ज्ञायक आत्माको सबसे भिन्न—परद्रव्यसे भिन्न, परभावोंसे भिन्न—जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। भेदज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। ज्ञायक आत्माको पहिचानना चाहिये।

'ज्ञायकस्वरूप हूँ' ऐसा अभ्यास करना चाहिये, उसकी प्रतीति करना चाहिये; प्रतीति करके उसमें स्थिर हो जाने पर, उसमें जो अनंत चमत्कारिक शक्ति है वह प्रगट अनुभवमें आती है।।४२६।।

*

प्रश्न :—मुमुक्षु जीव पहले क्या करे?

उत्तर :—पहले द्रव्य-गुण-पर्याय—सबको पहिचाने। चैतन्यद्रव्यके सामान्यस्वभावको पहिचानकर, उस पर दृष्टि करके, उसका अभ्यास करते-करते चैतन्य उसमें स्थिर हो जाये, तो उसमें जो विभूति है वह प्रगट होती है। चैतन्यके असली स्वभावकी लगन

लगे, तो प्रतीति हो; उसमें स्थिर हो तो उसका अनुभव होता है ।

सबसे पहले चैतन्यद्रव्यको पहिचानना, चैतन्यमें ही विश्वास करना और पश्चात् चैतन्यमें ही स्थिर होना...तो चैतन्य प्रगट हो, उसकी शक्ति प्रगट हो ।

प्रगट करनेमें अपनी तैयारी होना चाहिये; अर्थात् उग्र पुरुषार्थ बारम्बार करे, ज्ञायकका ही अभ्यास, ज्ञायकका ही मंथन, उसीका चिंतवन करे, तो प्रगट हो ।

पूज्य गुरुदेवने मार्ग बतलाया है; चारों ओरसे स्पष्ट किया है।।४२७।।

*

प्रश्न :—आत्माकी विभूतिको उपमा देकर समझाइये ।

उत्तर :—चैतन्यतत्त्वमें विभूति भरी है। कोई उपमा उसे लागू नहीं होती। चैतन्यमें जो विभूति भरी है वह अनुभवमें आती है; उपमा क्या दी जाय ? ४२८।।

*

प्रश्न :—प्रथम आत्मानुभव होनेसे पूर्व, अन्तिम विकल्प कैसा होता है ?

उत्तर :—अन्तिम विकल्पका कोई नियम नहीं है। भेदज्ञानपूर्वक शुद्धात्मतत्त्वकी सन्मुखताका अभ्यास करते-करते चैतन्यतत्त्वकी प्राप्ति होती है। जहाँ ज्ञायककी ओर परिणति ढल रही होती है, वहाँ कौनसा विकल्प अन्तिम होता है (अर्थात् अन्तमें अमुक ही विकल्प होता है) ऐसा 'विकल्प' सम्बन्धी कोई नियम नहीं है। ज्ञायकधाराकी उग्रता–तीक्ष्णता हो वहाँ 'विकल्प कौनसा ?' उसका सम्बन्ध नहीं है।

भेदज्ञानकी उग्रता, उसकी लगन, उसीकी तीव्रता होती है; शब्द द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। अभ्यास करे, गहराईमें जाय, उसके तलमें जाकर पहिचाने, तलमें जाकर स्थिर हो, तो प्राप्त होता है—ज्ञायक प्रगट होता है।।४२९।।

*

प्रश्न :—निर्विकल्प दशा होने पर वेदन किसका होता है ? द्रव्यका या पर्यायका ?

उत्तर :—दृष्टि तो ध्रुवस्वभावकी ही होती है; वेदन होता है आनन्दादि पर्यायोंका ।

द्रव्य तो स्वभावसे अनादि-अनंत है जो पलटता नहीं है, बदलता नहीं है । उस पर दृष्टि करनेसे, उसका ध्यान करनेसे, अपनी विभूतिका प्रगट अनुभव होता है।।४३०।।

*

प्रश्न :—निर्विकल्प अनुभूतिके समय आनन्द कैसा होता है ?

उत्तर :—उस आनन्दकी, किसी जगतके—विभावके—आनन्दके साथ, बाहरकी किसी वस्तुके साथ, तुलना नहीं है । जिसको अनुभवमें आता है वह जानता है । उसे कोई उपमा लागू नहीं होती । ऐसी अचिन्त्य अद्‌भुत उसकी महिमा है।।४३१।।

*

प्रश्न :—आज वीरनिर्वाणदिनके प्रसंग पर कृपया दो शब्द कहिये ।

उत्तर :—श्री महावीर तीर्थाधिनाथ आत्माके पूर्ण

अलौकिक आनन्दमें और केवलज्ञानमें परिणमते थे। आज उनने सिद्धदशा प्राप्त की। चैतन्यशरीरी भगवान आज पूर्ण अकम्प होकर अयोगीपदको प्राप्त हुए, चैतन्यपिण्ड पृथक् हो गया, स्वयं पूर्ण चिद्रूप होकर चैतन्यबिम्बरूपसे सिद्धालयमें विराज गये; अब सदा समाधिसुख-आदि अनन्तगुणोंमें परिणमन करते रहेंगे। आज भरतक्षेत्रसे त्रिलोकीनाथ चले गये, तीर्थंकरभगवानका वियोग हुआ, वीरप्रभुका आज विरह पड़ा। इन्द्रोंने ऊपरसे उतरकर आज निर्वाण-महोत्सव मनाया। देवों द्वारा मनाया गया वह निर्वाणकल्याणकमहोत्सव कैसा दिव्य होगा! उसका अनुसरण करके आज भी लोग प्रतिवर्ष दिवालीके दिन दीपमाला प्रज्वलित करके दीपावलीमहोत्सव मनाते हैं।

आज वीरप्रभु मोक्ष पधारे। गणधरदेव श्री गौतमस्वामी तुरन्त ही अंतरमें गहरे उतर गये और वीतरागदशा प्राप्त करके केवलज्ञान प्राप्त किया। आत्माके स्वक्षेत्रमें रहकर लोकालोकको जाननेवाला आश्चर्यकारी, स्वपरप्रकाशक प्रत्यक्षज्ञान उन्हें प्रगट हुआ, आत्माके असंख्य प्रदेशोंमें आनन्दादि अनन्त

गुणोंकी अनन्त पूर्ण पर्यायें प्रकाशमान हो उठीं ।

अभी इस पंचम कालमें भरतक्षेत्रमें तीर्थंकर-भगवानका विरह है, केवलज्ञानी भी नहीं हैं । महाविदेहक्षेत्रमें कभी तीर्थंकरका विरह नहीं होता, सदैव धर्मकाल वर्तता है । आज भी वहाँ भिन्न-भिन्न विभागोंमें एक-एक तीर्थंकर मिलाकर बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं । वर्तमानमें विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती-विजयमें श्री सीमंधरनाथ विचर रहे हैं और समवसरणमें विराजकर दिव्यध्वनिके स्रोत बहा रहे हैं । इस प्रकार अन्य विभागोंमें अन्य तीर्थंकरभगवन्त विचर रहे हैं ।

यद्यपि वीरभगवान निर्वाण पधारे हैं तथापि इस पंचम कालमें इस भरतक्षेत्रमें वीरभगवानका शासन प्रवर्त रहा है, उनका उपकार वर्त रहा है । वीर-प्रभुके शासनमें अनेक समर्थ आचार्यभगवान हुए जिन्होंने वीरभगवानकी वाणीके रहस्यको विविध प्रकारसे शास्त्रोंमें भर दिया है । श्री कुन्दकुन्दादि समर्थ आचार्यभगवन्तोंने दिव्यध्वनिके गहन रहस्योंसे भरपूर परमागमोंकी रचना करके मुक्तिका मार्ग

अद्भुत रीतिसे प्रकाशित किया है ।

वर्तमानमें श्री कहानगुरुदेव शास्त्रोंके सूक्ष्म रहस्य खोलकर मुक्तिका मार्ग स्पष्ट रीतिसे समझा रहे हैं । उन्होंने अपने सातिशय ज्ञान एवं वाणी द्वारा तत्त्वका प्रकाशन करके भारतको जागृत किया है । गुरुदेवका अमाप उपकार है । इस काल ऐसे मार्ग समझानेवाले गुरुदेव मिले वह अहोभाग्य है । सातिशय गुणरत्नोंसे भरपूर गुरुदेवकी महिमा और उनके चरणकमलकी भक्ति अहोनिश अंतरमें रहो ।।४३२।।

❁

भवजलधि पार उतारने जिनवाणी है नौका भली;
आत्मज्ञ नाविक योग बिन वह नाव भी तारे नहीं।
इस कालमें शुद्धात्मविद नाविक महा दुष्प्राप्य है;
मम पुण्यराशि फली अहो! गुरुकहान नाविक आ मिले॥

अहो! भक्त चिदात्माके, सीमंधर-वीर-कुन्दके!
बाह्यांतर विभवों तेरे, तारे नाव मुमुक्षुके॥

शीतल सुधाझरण चन्द्र! तुझे नमूं मैं;
करुणा अकारण समुद्र! तुझे नमूं मैं।
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तुझे नमूं मैं;
इस दासके जीवनशिल्पि! तुझे नमूं मैं॥

अहो! उपकार जिनवरका, कुन्दका, ध्वनि दिव्यका।
जिनके, कुन्दके, ध्वनिके दाता श्री गुरुकहानका॥

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके विषयमें जन्मजयंती प्रसंग पर पाँच गीत

सखी देख्युं कौतुक आज

[राग :—आवो आवो सीमंधरनाथ]

सखी! देख्युं कौतुक आज माता 'तेज' घरे;
एक आव्या विदेही महेमान, नीरखी नेन ठरे,
विदेही विभूति महान भरते पाय धरे;
मा 'तेज' तणे दरबार 'चंपा' पुष्प खीले....सखी० १.

शी बाळलीला निर्दोष, सौनां चित्त हरे;
शा मीठा कुंवरीबोल, मुखथी फूल झरे.
शी मुद्रा चंद्रनी धार, अमृत—निर्झरणी;
उर सौम्य सरल सुविशाळ, नेनन भयहरणी....सखी० २.

करी बाळवये बहु जोर, आतमध्यान धर्युं;
सांधी आराधनदोर, सम्यक् तत्त्व लह्युं.
मीठी मीठी विदेहनी वात तारे उर भरी;
अम आत्म उजाळनहार, धर्मप्रकाशकरी....सखी० ३.

सीमंधर—गणधर—संतना, तमे सत्संगी;
अम पामर तारण काज पधार्यां करुणांगी.
तुज ज्ञान-ध्यानन्नो रंग अम आदर्श रहो;
हो शिवपद तक तुज संग, माता! हाथ ग्रहो....सखी० ४.

जन्म वधामणां

[राग :—पुरनो मोरलो हो राज]

जन्मवधामणां हो राज! हैडां थनगन थनगन नाचे;
जन्म्यां कुंवरी चंद्रनी धार, मुखडां अमीरस अमीरस सींचे.

(साखी)

कुंवरी पोढे पारणे, जाणे उपशमकंद;
सीमंधरना सोणले मंद हसे मुखचंद.
हेते हींचोळतां हो राज! माता मधुर मधुर मुख मलके;
खेले खेलतां हो राज! भावो सरल सरल उर झळके....जन्म०

(साखी)

बाळावयथी प्रौढता, वैरागी गुणवंत;
मेरु सम पुरुषार्थथी देख्यो भवनो अंत.
हैयुं भावभीनुं हो राज! हरदम 'चेतन' 'चेतन' धबके;
निर्मळ नेनमां हो राज! ज्योति चमक चमक अति चमके....जन्म०

(साखी)

रिद्धिसिद्धि—निधान छे गंभीर चित्त उदार;
भव्यो पर आ काळमां अद्भुत तुज उपकार.
चंपो म्होरियो हो राज! जगमां मघमघ मघमघ म्हेके;
'चंपा'—पुष्पनी सुवास, अम उर मघमघ मघमघ म्हेके....जन्म०

*

भव्योनां दिलमां दीवडा प्रगटावनार

[राग :—सोहागमूर्ति शी रे के]

जन्मवधाईना रे के, सूर मधुर गाजे साहेलडी,
तेजबाने मंदिरे रे के चोघडियां वागे साहेलडी;
कुंवरीना दर्शने रे के नरनारी हरखे साहेलडी,
वीरपुरी धाममां रे के कुमकुम वरसे साहेलडी.

(साखी)

सीमंधर—दरबारना, ब्रह्मचारी भडवीर;
भरते भाळ्या भाग्यथी, अतिशय गुणगंभीर.

नयनोना तेजथी रे के सूर्यतेज लाजे साहेलडी,
शीतळता चंद्रनी रे के मुखडे विराजे साहेलडी;
उरनी उदारता रे के सागरना तोले साहेलडी,
फूलनी सुवासता रे के बेनीबाना बोले साहेलडी....जन्म०

(साखी)

ज्ञानानंदस्वभावमां, बाळवये करी जोर;
पूर्वाराधित ज्ञानने, सांध्यो मंगल दोर.

ज्ञायकना बागमां रे के बेनीबा खेले साहेलडी,
दिव्य मति-श्रुतनां रे के ज्ञान चड्यां हेले साहेलडी;
ज्ञायकनी उग्रता रे के नित्य वृद्धि पामे साहेलडी,
आनंदधाममां रे के शीघ्र शीघ्र जामे साहेलडी....जन्म०

(साखी)

समवसरण–जिनवर तणो, दीधो दृष्ट चितार;
उरमां अमृत सींचीने, कर्यो परम उपकार.

सीमंधर–कुंदनी रे के वात मीठी लागे साहेलडी,
अंतरना भावमां रे के उज्ज्वळता जागे साहेलडी;
खम्मा मुज मातने रे के अंतर उजाळ्यां साहेलडी,
भव्योना दिलमां रे के दीवडा जगाव्या साहेलडी....जन्म०

आवी श्रावणनी बीजलडी

[राग : — रूपला रातलडीमां]

आवी श्रावणनी बीजलडी आनंददायिनी हो बेन,
—सुमंगलमालिनी हो बेन !
जन्म्यां कुंवरी माता—'तेज'—घरे महा पावनी हो बेन,
—परम कल्याणिनी हो बेन !
ऊतरी शीतळतानी देवी शशी मुख धारती हो बेन,
—नयनयुग ठारती हो बेन !
निर्मळ आंखलडी सूक्ष्म--सुमति--प्रतिभासिनी हो बेन,
—अचल तेजस्विनी हो बेन !

(साखी)

मातानी बहु लाडिली, पितानी काळज—कोर;
बंधुनी प्रिय ब्हेनडी, जाणे चंद्र—चकोर.

ब्हेनी बोले ओछुं, बोलाव्ये मुख मलकती हो बेन,
—कदीक फूल वेरती हो बेन !
सरला, चित्तउदारा, गुणमाळा उर धारिणी हो बेन,
—सदा सुविचारिणी हो बेन !.....आवी०

(साखी)

वैरागी अंतर्मुखी, मंथन पारावार;
ज्ञातानुं तल स्पर्शीने, कर्यो सफळ अवतार,

ज्ञायक—अनुलग्ना, श्रुतदिव्या, शुद्धिविकासिनी हो बेन,
—परमपदसाधिनी हो बेन !
संगविमुख, अेकल निज—नंदनवन—सुविहारिणी हो बेन,
—सुधा—आस्वादिनी हो बेन !....आवी०

(साखी)

स्मरणो भव—भवनां रूडां, स्वर्णमयी इतिहास,
—दैवी उर—आनंदिनी 'चंपा' पुष्प—सुवास।

कल्पलता मळी पुण्योदयथी चिंतितदायिनी हो बेन,
—सकलदुखनाशिनी हो बेन !
मुक्ति वरुं—मनरथ अे मात पूरो वरदायिनी हो बेन,
—महाबलशालिनी हो बेन !....आवी०

[२११]

मंगलकारी ‘तेज’ दुलारी

(राग : निरखी निरखी मनहर मूरत)

मंगलकारी [1]‘तेज’ दुलारी पावन मंगल मंगल है;
मंगल तव चरणों से मंडित अवनी आज सुमंगल है,
....मंगलकारी०

श्रावण दूज सुमंगल उत्तम [2]वीरपुरी अति मंगल है,
मंगल मातपिता, कुल मंगल, मंगल धाम रु आंगन है;
मंगल जन्ममहोत्सवका यह अवसर अनुपम मंगल है,
....मंगलकारी०

मंगल शिशुलीला अति उज्ज्वल, मीठे बोल सुमंगल हैं,
शिशुवयका वैराग्य सुमंगल, आतम--मंथन मंगल है;
आतमलक्ष लगाकर पाया अनुभव श्रेष्ठ सुमंगल है,
....मंगलकारी०

सागर सम गंभीर मति--श्रुत ज्ञान सुनिर्मल मंगल है,
समवसरणमें कुंदप्रभुका दर्शन मनहर मंगल है,
सीमंधर--गणधर--जिनधुनिका स्मरण मधुरतम मंगल है,
....मंगलकारी०

शशि--शीतल मुद्रा अति मंगल, निर्मल नैन सुमंगल है,
आसन--गमनादिक कुछ भी हो, शांत सुधीर सुमंगल है,
प्रवचन मंगल, भक्ति सुमंगल, ध्यानदशा अति मंगल है,
....मंगलकारी०

दिनदिन वृद्धिमती निज परिणति वचनातीत सुमंगल है,
मंगलमूरति--मंगलपदमें मंगल--अर्थ सुवंदन है;
आशिष मंगल याचत बालक, मंगल अनुग्रहदृष्टि रहे,
तव गुणको आदर्श बनाकर हम सब मंगलमाल लहें ।
....मंगलकारी०

---

१ तेजबा = पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी मातुश्री

२ वीरपुरी = पूज्य बहिनश्री चंपाबेनका जन्मस्थान वर्धमानपुरी (वढवाण शहेर)

અનુભૂતિ તીર્થ મહાન, સ્વર્ણપુરી સોહે
યહ કહાનગુરુ વરદાન, મંગલ મુક્તિ મિલે.